# पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यम्

## सिद्धनञ्जेशशिवाचार्यविरचितम् भाषानुवादसहितम्

राष्ट्रियपण्डितव्रजवल्लभद्विवेदः

शोधप्रकाशन ग्रन्थमाला— २९

# पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यम्

## सिद्धनञ्जेशशिवाचार्यविरचितम्

## भाषानुवादसहितम्

अनुवादकः सम्पादकश्च

**राष्ट्रिय पण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदः**

निदेशकः, शैवभारतीशोधप्रतिष्ठानम्

प्रकाशकः

**शैवभारती शोध प्रतिष्ठानम्**

डी. ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ, वाराणसी – २२१ ००१

*प्रकाशक*
**शैवभारती-शोधप्रतिष्ठानम्**
डी. ३५/७७, जंगमवाड़ी मठ
वाराणसी - २२१ ००१



प्रथम संस्करण २००४

मूल्य : २०० (सजिल्द), १५० (अजिल्द)

*अक्षर संयोजन*
**शिव शक्ति कम्प्यूटर प्रोसेस**
जंगमवाडीमठ, वाराणसी

*मुद्रक*
**मित्तल ऑफसेट्स**
सुन्दरपुर, वाराणसी

Research Publications Series— 29

# PAÑCAVARṆAMAHĀSŪTRA BHĀṢYAM

## Siddhanañjeśaśivācāryaviracitam

### Bhāṣānuvādasahitam

*Translated and Edited by*
**Pt. Vrajavallabha Dwivedi**
*Director of Shaivabharati Shodha Pratishthanam*

**SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM**
D. 35/77, Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

*Published by :*
**SHAIVA BHARATI SHODHA PRATISHTHANAM**
D. 35/77, Jangamawadimath
Varanasi - 221 001



First Published 2004

ISBN 81-86768-54-8 (Hb)
ISBN 81-86768-55-6 (Pb)

Price : 200 (Hb), 150 (Pb)

*Laser Typeset at :*
**Shiva-Shakti Computer Process**
Jangamawadimath, Varanasi - 221 001

*Printed at :*
**Mittal Offset**
Sundarpur, Varanasi

## शैवभारती शोधप्रतिष्ठान के संस्थापक



### श्रीकाशी विश्वाराध्य ज्ञानसिंहासनाधीश्वर
### श्री १००८ जगद्गुरु डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य
### महास्वामीजी का

# शुभाशीर्वचन

"पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यम्" नामक इस ग्रन्थ को लोककल्याण के लिए शिवार्पण करते हुए आज हम अपार हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। काशी महापीठ के द्वापर युग के आचार्य श्री जगद्गुरु विश्वकर्ण शिवाचार्य जी ने महर्षि दुर्वासा को इस पंचवर्णमहासूत्र का उपदेश किया था। "शिव एवात्मा" यह पांच वर्ण वाले महासूत्र का स्वरूप है। इस सूत्र के ऊपर महर्षि दुर्वासा जी ने वीरशैव सिद्धान्तपरक वृत्ति लिखी थी। लेकिन वह आज उपलब्ध नहीं है। हुली हिरेमठ के स्कन्दगोत्रीय पंचवर्ण-सूत्रान्वित श्री सिद्धनंजेश शिवाचार्य ने इस सूत्र के ऊपर भाष्य लिखा है। उसकी एक हस्तलिखित प्रति जंगमवाड़ी मठ के ज्ञानमंदिर ग्रन्थालय में उपलब्ध हुई है। अभी तक उसका प्रकाशन कहीं से नहीं हुआ, इस तथ्य को जानते हुए हमारे शैवभारती शोध प्रतिष्ठान के निदेशक पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने इस ग्रन्थ का संपादन एवं हिन्दी अनुवाद करके इसकी उपयोगिता को बढ़ाया है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन से एक प्राचीन ग्रन्थ की उपलब्धि सबके लिए हो गई है। जिज्ञासु छात्रगण और विद्वान् इसका अवश्य लाभ उठायेंगे।

इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में श्रीजगद्गुरु विश्वकर्ण शिवाचार्यजी के चरित्र के प्रतिपादक "श्रीजगद्गुरुविश्वकर्णविजयनक्षत्रमालिका" को भी प्रकाशित किया जा रहा है। यह नक्षत्रमालिका २१-७-१९५१ ई. में मैसूर के पंचाचार्य इलेक्ट्रिक प्रेस से कन्नड़ लिपि में पहली बार प्रकाशित हुई थी। मरबजड़े मठ के श्री ष. ब्र. गंगाधर शिवाचार्य जी ने इसका कन्नड़ अनुवाद के साथ संपादन कर श्री जडेय शिवयोगीश ग्रन्थमाला के दशम पुष्प के रूप में प्रकाशित किया था। श्री जगद्गुरुविश्वकर्णविजयनक्षत्रमालिका के रचयिता हुली हिरेमठ के श्री चिक्क नंजेश महाकवि रहे। इनका समय १६५० ई. माना जाता है। कवि चिक्क नंजेश कर्नाटक के प्रसिद्ध कवियों में एक हैं। इनके द्वारा राघवांकचरित्र, गुरुराजचरित्र, वृषभचरित्र आदि ग्रन्थ लिखे गये हैं। ये कन्नड़ और संस्कृत दोनों भाषाओं में पद्य लिखने की सामर्थ्य रखते रहे। अत: इनको "उभयकविता विशारद" उपाधि मिली थी। ये चिक्क नंजेश पंचवर्णमहासूत्रभाष्य के रचनाकार श्री सिद्ध नंजेश के शिष्य रहे। इस नक्षत्रमालिका ग्रन्थ की मूल हस्तप्रतिलिपि हुली हिरेमठ के तर्कतीर्थ नीलकंठ शिवाचार्य जी से प्राप्त हुई थी।

महर्षि दुर्वासा बहुत बड़े तपस्वी रहे और शिव के आदेश के अनुसार अपने क्रोध की शान्ति के लिए काशी में ही एक विल्ववन में रहकर तपश्चर्या करते रहे। बहुत दिन तक तपश्चर्या करने के बाद भी उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ, इससे वे हमेशा चिन्तित रहते थे। यह स्थिति जब श्री जगद्गुरु विश्वकर्ण शिवाचार्य भगवत्पाद को मालूम हुई, तब वे स्वयं उनके आश्रम पर पहुँच गये। श्री विश्वकर्ण भगवत्पाद को अपने आश्रम में पधारते देखकर आदरभाव से महर्षि दुर्वासा ने स्वागत किया और विधिवत् पादपूजा की। बाद में उन्होंने अपनी मनोव्यथा को निवेदित किया। महर्षि दुर्वासा की क्रोधरूपी मनोव्यथा को दूर करने के लिए "शिव एवात्मा" इस पाँच वर्ण वाले महासूत्र का उपदेश करके उसके अर्थ को समझाया। जब दुर्वासा शिवाद्वैत ज्ञान से परिपूर्ण हुए, तब उनको अपने व्यतिरिक्त कोई व्यक्ति और कोई वस्तु भासित ही नहीं होने लगी, अर्थात् वह सर्वत्र अपने आपको ही देखने लगे। क्रोधादि विकारों के लिए भेदबुद्धि ही कारण होती है। शिवाद्वैत ज्ञान से भेदबुद्धि के नष्ट हो जाने पर क्रोधादि के लिए अवसर ही प्राप्त नहीं होता। इस तरह इस पंचवर्ण-महासूत्र के उपदेश से महर्षि दुर्वासा पूर्ण रूपेण

शान्त हुए। यह सब इतिवृत्त इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में प्रकाशित "श्री जगद्गुरुविश्वकर्णविजयनक्षत्रमालिका" में वर्णित है।

इस ग्रन्थ के सम्पादक पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी जी के अथक प्रयास से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। अत: उनके प्रति हम आयुष्य और आरोग्य की मंगलमय कामना करते हैं। टेकरा मठ निवासी डॉ. स्वामी शिवानन्द जी का भी अपार सहयोग प्राप्त हुआ है। अत: उनके प्रति भी मंगल-भावना व्यक्त करते हैं। इसके टंकणकार श्री चिदानन्द ओ. हिरेमठ (कसगी), मुद्रण व्यवस्थापक डॉ. जी. सी. केंडदमठ, मुद्रक जौहरी प्रेस के मालिक एवं कर्मचारियों को अनंत मंगलाशीर्वाद। अन्त में हम यह आशा करते हैं कि पहली बार प्रकाशित इस प्राचीन ग्रन्थ का परिचय सबको हो जाय और इसका प्रयोजन अनन्तकाल तक सबको मिलता रहे।

इत्याशिषः

❋❋❋

# प्रस्तावना

शैवभारती शोध प्रकाशन ग्रन्थमाला के २९वें पुष्प के रूप में पंचवर्णमहासूत्रभाष्य को भाषानुवाद के साथ विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। महास्वामीजी ने अपने शुभाशीर्वचन में इनका परिचय दे दिया है। [1]यहाँ भाष्यकार प्रारंभ के अपने नौ श्लोकों में साम्बशिव को, पंचवर्णमहासूत्र के कर्ता विश्वकर्ण शिवाचार्य को, सूत्रकार वेदव्यास, वृत्तिकार चैतन्य और भाष्यकार नीलकण्ठ को, शिवादित्य शिवाचार्य को, विश्वेश्वर शिवाचार्य को, ब्रह्मसूत्र के प्रथम भाष्यकार नीलकण्ठार्य को, चिद्घनानन्द योगी को, शिवानुभव योगी और स्वप्रभानन्द देशिक को नमन कर दसवें श्लोक में [2]बाल (अज्ञ) जनों के सुखबोध के लिए पंचवर्णमहासूत्र का यथामति व्याख्यान करने की सूचना देते हैं।

आगे भाष्य के प्रथम अनुच्छेद में बताया गया है कि काशी विश्वेश्वर शिवलिंग से प्रादुर्भूत जगद्गुरु विश्वकर्ण शिवाचार्य ने दुर्वासा आदि महर्षियों के कल्याण के लिए कामिक आदि अट्ठाईस दिव्यागमों के सार के रूप में शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक पंचवर्णमहासूत्र की रचना की थी। इस महासूत्र में शिव, एव, आत्मा — ये तीन पद हैं। इनमें से प्रथमत: शिव पद की विस्तार से और तब एव और आत्मा शब्द की भी संक्षेप में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। उनका अभिप्राय यह है कि यहाँ शिव ही स्वतन्त्र हैं और [3]कालाग्निरुद्र से लेकर अनाश्रित भुवन पर्यन्त समस्त लोकों में रहने वाले प्राणी परतन्त्र हैं।

---

१. मंगल-पद्यों के ऊपर की 'श्रीगणेशाय नम:' इत्यादि वाक्यावली और ग्रन्थ समाप्ति (पृ. ५२) की पूरी वाक्यावली ग्रन्थकार की न होकर लिपिकार की लगती है।

२. यहाँ **बाल** शब्द का प्रयोग तर्कसंग्रह के टीकाकारों ने जैसे "अधीतव्याकरण-काव्यकोष:, अनधीततर्कशास्त्रो बाल:" किया है, उसी तरह आगमशास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए किया गया है।

३. कालाग्निरुद्र से अनाश्रित भुवन पर्यन्त २२४ भुवनों की नामावली शैवागमों में देखी जा सकती है। इन सभी भुवनों में निवास करने वाले जीवात्मा परतन्त्र, अर्थात् भगवान् शिव के अधीन माने गए हैं।

यद्यपि [१]चैतन्य शब्द से ही परब्रह्म का बोध हो जाता है, किन्तु इस महासूत्र में उनको शिव कहा गया है, क्योंकि यह शिव सबका कल्याण करता है और श्रुति-पुराण आदि में इसकी महिमा गाई गई है। [२]विज्ञानभैरव के प्रमाण से और श्रुतियों के प्रमाण से इस विषय को आगे समझाया गया है। शिव शब्द की [३]व्युत्पत्ति बताकर भगवान् शिव की महिमा का वर्णन करते हुए यहाँ बताया गया है कि वे ही सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म हैं।

यह सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म ही छत्तीस तत्त्वों के रूप में, इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्ति के रूप में और चतुर्दश भुवनों के रूप में भासित हो उठता है। इन तत्त्वों में शिव की गणना औपचारिक है। वास्तव में परमशिव की गणना इनमें नहीं की जाती। आगे शक्ति तत्त्व (पुरुष रूप नारायण), सादाख्य रुद्रतत्त्व, ईश्वरतत्त्व और शुद्धविद्यातत्त्व के प्रादुर्भाव का प्रकार बताया गया है। सिद्धान्त शास्त्र में शुद्ध तत्त्वों के रूप में ये प्रसिद्ध हैं।

शुद्धविद्या तत्त्व से [४]मयूराण्डरसन्याय से आगे की माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति और पुरुष नामक सात शुद्धाशुद्ध तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है। कला आदि पाँच तत्त्व पुरुष के **कंचुक** माने गए हैं, क्योंकि इनके कारण पुरुष का अपना वास्तविक शिव-स्वरूप तिरोहित हो जाता है और वह संसारी जीवात्मा बन जाता है, माया से आक्रान्त हो निजी शिव-स्वरूप को भूल बैठता है।

इसके बाद २४ तत्त्वों की सृष्टि होती है। प्रकृति तत्त्व में सत्त्व, रज और तम नामक तीन गुण साम्यावस्था में विद्यमान रहते हैं। प्रकृति से [५]अहंकार,

---

१. "चैतन्यमात्मा" इस प्रथम शिवसूत्र में सामान्य रूप से आत्मा के लिए ही इस शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु यहाँ प्रधान रूप से शिव का ग्रहण किया जाता है।

२. विज्ञानभैरव (श्लो. ९८) पर यहाँ हमारा भाषा-भाष्य देखिए।

३. "शिवमस्यास्ति। अर्श आद्यच् (५.२.१२७)। शिवयतीति वा। तत्करोति' (वा.३.१.२) इति ण्यन्तात् पचाद्यच् (३.१.१३४)" शिव शब्द पर अमरकोष सुधाव्याख्या की सहायता से यहाँ का पाठ स्पष्ट होता है।

४. मयूर (मोर) के अण्डे में जैसे चित्र-विचित्र वर्ण वाले इस पक्षी का आकार छिपा हुआ है, उसी तरह से शुद्धविद्या (कुण्डलिनी) में यह समस्त जगत् छिपा हुआ है। वट-बीज के दृष्टान्त से भी इस विषय को समझाया जाता है।

५. यहाँ सांख्यकारिका आदि के क्रम के विपरीत बुद्धि के पहले अहंकार को स्थान दिया गया है। क्रम-दर्शन में भी अहंकार के बाद ही बुद्धि का परिगणन किया जाता है।

बुद्धि और मन नामक अन्त:करणत्रय की और पाँच बुद्धीन्द्रियों की सृष्टि होती है। शब्द आदि पाँच विषयों का ग्रहण यद्यपि अन्त:करण से भी होता है, तो भी इनके ग्रहण में असाधारण कारणता श्रोत्र आदि की ही मानी जाती है, अत: इस लक्षण में [१]अतिव्याप्ति दोष की आपत्ति नहीं आती। आगे पाँच कर्मेन्द्रियों की, शब्द आदि पाँच तन्मात्राओं की और आकाश आदि पाँच महाभूतों की सृष्टि होती है। ग्रन्थकार ने इन सभी तत्त्वों के स्वरूप को स्पष्ट किया है। प्रकृति से लेकर पृथिवी पर्यन्त ये २४ तत्त्व अशुद्ध नाम से परिगणित हैं।

छत्तीस तत्त्वों का इस प्रकार परिगणन करने के बाद ग्रन्थकार ने बताया है कि इनमें से शिव तत्त्व को छोड़कर शक्ति तत्त्व से भूमिपर्यन्त ३५ तत्त्व चिदचिदात्मक हैं। इसमें उन्होंने वायुसंहिता का भी प्रमाण दिया है। श्रुति, स्मृति, पुराण आदि के वचनों को उद्धृत कर उन्होंने शिव और शक्ति तत्त्वों की भिन्नता और अभिन्नता को स्थापित करते हुए महासंविदानन्द स्वरूपा परा शक्ति को भगवान् शिव का स्वरूप और गुण भी बताया है, क्योंकि [२]शक्ति के अभाव में परब्रह्मशिव के सर्वज्ञत्व आदि गुणों की और [३]भव, शर्व आदि नामों की भी कोई स्थिति नहीं बन पावेगी। स्पष्ट है कि शक्तिविशिष्ट शिव ही इस विश्व की आत्मा है, इसकी प्रकाशात्मकता सर्वत्र अनुस्यूत है। इसके सिवाय अन्य किसी की वास्तविक सत्ता नहीं मानी जा सकती।

जब चित्स्वरूप परमेश्वर अपनी स्वातंत्र्य शक्ति के आधार पर अपने आप अभेद-व्याप्ति को छोड़कर भेद दृष्टि का सहारा लेता है, तब अपनी इच्छा शक्ति के संकोच के कारण जीवात्मा स्वयं को अपूर्ण मानने लगता

---

१. श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द आदि एक-एक विषय का ही ग्रहण करती हैं और अन्त:करणों से इन सभी का ज्ञान होता है, अत: श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों का जो लक्षण किया गया है, वह एक-दूसरी इन्द्रिय में और अन्त:करण में भी लागू नहीं होता। इस प्रकार यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त नहीं है।

२. "शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते" (४.३) यह वचन नित्याषोडशिकार्णव का और "शिव: शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्त: प्रभवितुं न चेदेवं देवो स खलु परतन्त्र: स्पन्दितुमपि" (श्लो. १) यह कथन सौन्दर्यलहरी का है। इकार शक्ति का वाचक है, उसके अभाव में शिव शव बन जाता है।

३. महिम्नस्तोत्र (श्लो. २८) में 'भव: शर्वो रुद्र: पशुपतिरथोग्र: सहमहास्तया भीमेशानाविति यदभिधानाष्टकमिदम्" इस प्रकार शिव के आठ नामों की चर्चा है।

है। यही स्थिति आणव मल के नाम से जानी जाती है। इसी तरह ज्ञानशक्ति के संकोच से मायीय मल और क्रिया शक्ति के संकोच से कार्म मल की उत्पत्ति हो जाती है। इन [1]त्रिविध पाशों से बँधकर जीवात्मा [2]पशु कहलाने लगता है। उसकी सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व नामक पाँच शक्तियाँ संकुचित होकर कला, विद्या, राग, काल और नियति का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार अपनी ही शक्तियों के संकोच के कारण यह संसारी जीव शक्तिदरिद्र हो जाता है और इनके विकास के लिए [3]उद्यम करता है। शक्तियों का विकास होने पर वह पुन: शिव बन जाता है। पुराण भी इस प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। वहाँ आत्मा को भगवान् शिव की [4]आठवीं मूर्ति माना गया है और बताया गया है कि भगवान् शिव ही नारायण (विष्णु) आदि सभी जीवों के उपास्य हैं।

भाष्यकार ने [5]महानारायण और [6]कैवल्य उपनिषदों के प्रमाण से यह शंका उठाई है कि ये सब विशेषण नारायण (विष्णु) में ही घटित होते हैं।

---

१. सिद्धान्तशैवागमों में मल, महामाया, तिरोधानशक्ति, माया और कर्म नामक पाँच पाश वर्णित हैं। अन्यत्र महामाया और तिरोधान शक्ति को पाश नहीं माना जाता। तदनुसार वीरशैवागम में भी तीन ही पाश मान्य हैं।

२. शैवशास्त्रों में शिव को पति और जीव को पशु कहा गया है। विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल के भेद से पशु तीन प्रकार के हैं। इनके अन्य अवान्तर भेद भी शास्त्रों में वर्णित हैं।

३. ''उद्यमो भैरव:'' (१.७) इस शिवसूत्र में उद्यम (निजी प्रयत्न) को भगवान् भैरव का स्वरूप माना गया है। योगवासिष्ठ में पुरुषकार को दैव (भाग्य) की अपेक्षा विशेष महत्त्व दिया गया है।

४. महाकवि कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल के मंगल पद्य में अष्टमूर्ति शिव का नमन किया है। पाँच महाभूत, सूर्य, सोम और यजमान (आत्मा) ये आठ शिव की मूर्तियाँ हैं। पशुपतिनाथ यजमान मूर्ति माने जाते हैं। महिम्नस्तोत्र का ''त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि'' यह श्लोक भी देखिए।

५. महानारायणोपनिषद् के ८वें एवं ११-१२ खण्डों में ये वचन उपलब्ध हैं। वहाँ ''नारायण: परं ब्रह्म'' पाठ है, ''नारायणपरं ब्रह्म'' नहीं।

६. इस छोटे से उपनिषद् में भगवान् शिव की महिमा वर्णित है। अपेक्षाकृत प्राचीन उपनिषदों में इसकी गणना की जा सकती है।

यहाँ नारायण को ही परब्रह्म माना गया है। इसके उत्तर में वे इस पूरे प्रकरण की अपनी पद्धति से व्याख्या करते हैं और कैवल्योपनिषत्, [1]अथर्वशिर उपनिषत् आदि के प्रमाण से यह स्थापित करते हैं कि नारायण से भी परे विद्यमान भगवान् शिव की स्थिति यहाँ मान्य है। [2]उपक्रमोपसंहारन्याय से भी प्रस्तुत प्रकरण की भगवान् शिव में ही संगति बैठती है। महेश्वर (शिव) ही उपास्य के रूप में और नारायण उनके प्रधान उपासक के रूप में यहाँ चर्चित हैं। नारायण भी भगवान् शिव की आराधना करते हैं, इसमें वे ब्रह्मवैवर्तपुराण आदि के प्रमाणों को प्रस्तुत करते हुए यह स्थापित करते हैं कि भगवान् महेश्वर (शिव) के नारायण ही मुख्य उपासक हैं। इस प्रकार यह स्थापित हो जाता है कि लिंगमूर्ति भगवान् शिव की ही सबको उपासना करनी चाहिए।

भाष्यकार ने अब तक शैवागमों में वर्णित प्राय: सभी शैव मतों की मान्य दार्शनिक प्रक्रिया को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। अब आगे वे सिद्धान्त शैवागमों के उत्तर भाग में वर्णित वीरशैव शास्त्र की शिवोपासना की पद्धति को ग्रन्थसमाप्ति पर्यन्त बता रहे हैं।

भगवान् शिव की उपासना करने के लिए इष्टलिंग का धारण आवश्यक है। सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त व्यक्ति ही इष्टलिंग के धारण की योग्यता प्राप्त कर सकता है। स्कन्दपुराण में बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से इष्टलिंग के दो प्रकार उपासना के लिए वर्णित हैं। इनमें आधार, हृदय आदि आन्तर स्थानों में ज्योतिर्लिंग का अनुसन्धान आन्तर और गुरुप्रदत्त इष्टलिंग को मस्तक आदि उत्तम अंगों में धारण करना बाह्य कहलाती है।

यहाँ भाष्यकार ने शंका उठाई है कि इष्टलिंग के धारण का विधान वेदों में नहीं मिलता, अत: पुराणों के आधार पर इसको मान्यता नहीं दी जा सकती। इसके उत्तर में वे तैत्तिरीयोपनिषद् के वचन को उद्धृत कर ईश्वरगीता, लिंगपुराण, कामिकागम और पातंजल योगसूत्र की पृष्ठभूमि में इसकी व्याख्या करते हुए

---

१. अथर्वशिरउपनिषद् में यह विषय विस्तार से वर्णित है।

२. किसी प्रकरण या शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय क्या है, इसका निर्णय करने के लिए मीमांसाशास्त्र में षड्विध लिंगों की चर्चा की गई है। उपक्रमोपसंहार न्याय से यह वहाँ परिभाषित है। तदनुसार यहाँ इन सब उपनिषद्वाक्यों का भगवान् शिव में ही तात्पर्य निर्धारित है।

कहते हैं कि इस प्रकार वेदों में और उनके उपबृंहक पुराण आदि में भी इष्टलिंग के धारण करने का विधान है। आगे ब्रह्माण्डपुराण और शंकरसंहिता को उद्धृत कर उन्होंने इष्टलिंग के धारण की विधि को भी स्पष्ट किया है। केवल उपनिषद् ही नहीं, यजुर्वेद के मन्त्र को उद्धृत कर उसकी भी साम्प्रदायिक व्याख्या करते हुए उसके समर्थन में स्कन्दपुराण के वचनों को उद्धृत किया गया है। आगे भाष्यकार ने ऋग्वेद के वचन को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर उसकी पदशः विवेचना करते हुए यहाँ भी इसके समर्थक वचनों को प्रस्तुत किया है।

इसी प्रसंग में आगे हंसोपनिषद्, मनुस्मृति, बौधायनस्मृति, शातातपस्मृति, पद्मपुराण, शिवगीता, तैत्तिरीयोपनिषद्, भस्मजाबालोपनिषद् जैसे ग्रन्थों के वचनों को प्रस्तुत करते हुए वे इष्टलिंग के साथ रुद्राक्ष और भस्मधारण की विधि को भी वेद-संमत बताते हुए कहते हैं कि ध्यानयोगरत ऐसे योगी का दाहसंस्कार नहीं किया जाता और न उसके लिए पिण्डोदकदान की ही कोई आवश्यकता रह जाती है।

इस प्रकार वीरशैवागमों में निर्दिष्ट इष्टलिंगधारण, पूजन आदि का विधान श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम और उपनिषदों के द्वारा भी समर्थित है। भाष्यकार ने विस्तार के भय से उनको यहाँ प्रस्तुत नहीं किया है, किन्तु लिंगधारणचन्द्रिका जैसे ग्रन्थों में इनका विस्तार देखा जा सकता है। साधक को चाहिए कि वह लिंगांगसामरस्य रूप मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति के लिए [१]विवेक, वैराग्य आदि गुणों से संपन्न होकर भक्तिभावपूर्वक ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु की शरण में जाकर दीक्षा ग्रहण करे और शास्त्रश्रवण, इष्टलिंगध्यान, प्राणलिंगानुसन्धान के लिए प्रयत्नशील हो जाय।

आगे वीरशैवागमों में वर्णित लिंगांगसामरस्य की प्रक्रिया को ग्रन्थसमाप्ति पर्यन्त समझाया गया है। इसको पूरी सावधानी से समझने की आवश्यकता है। यहाँ **स्थल** तत्त्व का, उसके **लिंग** और **अंग** नामक दो भेदों का और उनमें से प्रत्येक के तीन-तीन और छः-छः भेदों का स्वरूप बताया गया है। आगमों

---

१. वेदान्तशास्त्र में साधन-चतुष्टय से संपन्न प्रमाता को शास्त्र का अधिकारी माना गया है। इनमें नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग, शमदमादिषट्कसंपत्ति और मुमुक्षुत्व की गणना की जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेक, वैराग्य पदों के द्वारा इन्हीं का स्मरण कराया गया है।

में प्रतिपादित इस विषय को अपने शब्दों में स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि सच्चिदानन्द स्वरूप यह परशिव तत्त्व (स्थल) किस तरह से लिंग और अंग के स्वरूप को धारण कर लेता है। यहाँ स्थल ब्रह्म को ही घनलिंग नाम दिया गया है। पहले लिंग तत्त्व के तीन और छ: भेद निरूपित हैं और बताया गया है कि इन षड्विध लिंगों में क्रमश: चिच्छक्ति प्रणव और शान्त्यतीतोत्तर कला के रूप में, आनन्दरूप पराशक्ति पंचाक्षर मन्त्र के **य**कार और शान्त्यतीत कला के रूप में, आदिशक्ति **वा**कार वर्ण और शान्ति कला के रूप में, इच्छाशक्ति **शि**कार वर्ण और विद्या कला के रूप में, ज्ञानशक्ति **मः**कार वर्ण और प्रतिष्ठा कला के रूप में तथा क्रियाशक्ति **न**कार वर्ण और निवृत्ति कला के रूप में प्रविष्ट हो जाती है। इस प्रकार यह षड्विध लिंगतत्त्व षड्विध शक्तियों से एवं षडक्षर मन्त्र और षड्विध कलाओं से संपन्न हो जाता है। इन षड्विध लिंगों की ब्रह्मचक्र में तथा आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्धि चक्रों में स्थिति मानी गई है। वीरशैवागमों में यह लिंगतत्त्व ही **उपास्य** के रूप में मान्य है। इन सबका स्वरूप पदानुक्रमणी की सहायता से देखा जा सकता है (लिंग, शक्ति, षडक्षरी मन्त्र, कला और चक्र शब्द देखिये)।

आगे लिंगस्थल की पद्धति से ही त्रिविध और षड्विध अंग तत्त्व का स्वरूप भी बताया गया है। इन षड्विध अंगों में शक्तितत्त्व षड्विध भक्ति के रूप में; भाव, ज्ञान, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नामक षड्विध अन्त:करण के रूप में; षडक्षर मन्त्र के रूप में और सद्भाव, सुज्ञान, सुमनस्, निरहंकार, सुबुद्धि और सुचित्त के रूप में षड्विध आकार ग्रहण कर अंगभाव को प्राप्त कर लेता है। यह अंगस्थल ही वीरशैवागम में **उपासक** कहलाता है।

भाष्यकार ने यहाँ लिंगतत्त्व और शरण (अंगतत्त्व) की परस्पराश्रयता को बीजवृक्षन्याय से समझाया है और पहले षड्विध लिंगतत्त्व के आध्यात्मिक स्वरूप को बता कर बाद में षड्विध अंगतत्त्व के आन्तरिक स्वरूप को भी सप्रमाण स्पष्ट किया है। शंकरसहिंता को यहाँ प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

षड्विध अंगतत्त्व के प्रसंग में शरण और ऐक्य की अपनी विशेष स्थिति है। **शरण** प्राणलिंग के साथ सतीपतिभाव को वरीयता देता है और **ऐक्य** षड्विध

[1]ऊर्मियों और षड्विध [2]भावों से रहित समस्त संसार को अपनी पूर्णाहन्ता का विलास मानने वाला, [3]शिखी-कर्पूरन्याय से महालिंग के प्रकाश से प्रकाशित [4]षड्विध ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति के रूप में शिवैक्य को प्राप्त करने वाला [5]अष्टांग अर्चन से ऊपर उठ जाता है।

भक्त आदि षड्विध अंगों और आचार आदि लिंगों के पारस्परिक संबन्ध पर विचार करना भी यहाँ जरूरी माना गया है। इस प्रक्रिया में घ्राण से मन तक की षड्विध इन्द्रियों और निवृत्ति आदि षड्विध कलाओं के साथ इनके स्वरूप पर विचार किया जाता है। तभी लिंगांग-सामरस्य की प्रक्रिया पूरी हो पाती है। विभिन्न श्रुतियों के प्रमाण से यहाँ इस विषय को स्पष्ट किया गया है। इस प्रक्रिया के पूरा होने पर वीरशैव उपासक का शरीर मन्त्रमय हो जाता है। इस स्थिति में उसे किसी उपचार की अपेक्षा नहीं रह जाती, तो भी उसे लिंगांग-सामरस्य की प्रक्रिया की भावना को निरन्तर चलाये ही रहना पड़ता है।

---

१. बुभुक्षा और पिपासा (भूख-प्यास) के साथ शोक और मोह का तथा जरा और मृत्यु का समावेश करने पर संसार-सागर की ये छः ऊर्मियाँ बनती हैं। इस प्रसंग में पारमेश्वरागम का यह वचन देखिए—

**क्षुत्पिपासे प्राणधर्मौ शोकमोहौ मनोगतौ।**
**जननं मरणं चेति देहधर्मौ षडूर्मयः।। (६.६८)**

२. काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य की गणना छः भावविकारों में होती है। पारमेश्वरागम (६.७१-७२) में इनको अरिषड्वर्ग कहा गया है। निरुक्त (१.१.३) में जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते, विनश्यति नामक छः भावविकार वर्णित हैं। काम, क्रोध आदि मानसिक और 'जायते' आदि शरीरगत विकार हैं।

३. अग्नि को समर्पित कपूर अग्नि का आकार ग्रहण कर जैसे तन्मय हो जाता है, उसी में विलीन हो जाता है, उसी तरह से अंग और लिंग तत्त्व का शिव तत्त्व में विलय यहाँ मान्य है। उनकी पृथक् सत्ता नहीं रह जाती।

४. "सर्वज्ञता तृप्ति........षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य।।" महेश्वर के ये षड्विध गुण ही षड्विध ऐश्वर्य के रूप में शिवीभूत जीव में प्रकट हो उठते हैं।

५. परशुरामकल्पसूत्र के परिशिष्ट में विविध उपचारों के प्रसंग में अष्टोपचार का उल्लेख नहीं है। जैन धर्म में अष्टोपचारी पूजा का विधान मिलता है। सिद्धान्तसारावलि (पृ. १२३) में अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, क्षान्ति, दया, ज्ञान, तप, सत्य और भाव नामक अष्टविध पुष्पों की चर्चा मिलती है। आन्तर अर्चन के ये अंग हैं।

अंगतत्त्व के निरूपण के प्रसंग में भी अंग, भक्ति, अन्त:करण, विषयषट्क, षडक्षरी मन्त्र, सद्भावादि हस्तषट्क का स्वरूप पदानुक्रमणी की सहायता से जाना जा सकता है। मन को उभयविध माना जाता है, अत: ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के साथ जोड़कर इनकी भी षड्विधता मानी जा सकती है। इसी तरह पंच महाभूतों के साथ तन्मात्रा (समष्टिभूत) को जोड़कर इनकी भी षड्विधता मानी जानी चाहिए। इस प्रसंग में यह अवधेय है कि अंगों का विवेचन करते समय प्राणलिंगी और प्रसादी के क्रम में तथा सद्भाव आदि षड्विध हस्तों का निरूपण करते समय सुबुद्धि और निरहंकार के क्रम में अन्तर मिलता है। ग्रन्थकार ने तत्त्वों की गणना में अहंकार के बाद बुद्धि का परिगणन किया है। ऊपर की पृष्ठ संख्या xi की ५वीं टिप्पणी देखिए।

विलय की प्रक्रिया विपरीत क्रम से चलती है। पहले षड्विध अंगों में पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों और बिन्दु को लीन कर लेना चाहिए। इसी क्रम से अन्य सभी षड्विध तत्त्वों का क्रमश: अन्तर्भाव किया जाता है और अन्तत: भक्त को आचार लिंग में, माहेश्वर को गुरुलिंग में, प्रसादी को शिवलिंग में, प्राणलिंगी को जंगमलिंग में, शरण को प्रसाद लिंग में और ऐक्य को महालिंग में विलीन कर लेने की भावना की जाती है। इसी तरह आचारलिंग को गुरुलिंग में, गुरुलिंग को शिवलिंग में, शिवलिंग को जंगमलिंग में, जंगमलिंग को प्रसादलिंग में, प्रसादलिंग को महालिंग में और महालिंग को घनलिंग में एकाकार करने की भावना करनी चाहिए, क्योंकि इन षड्विध लिंगों की स्थिति चित् और आनन्द की सत्ता के प्रतिफलन (प्रतिबिम्ब) के कलन (आभास) के कारण ही होती है।

इसीलिए मुक्ति की कामना रखने वाला साधक (मुमुक्षु) इस तरह यहाँ बताई गई लिंगांग-सामरस्य की पूरी प्रक्रिया को समझ कर पृ. ५०-५१ पर उद्धृत श्रुतियों के प्रमाण से अपने में पूर्णाहन्ता की अभिव्यक्ति हो जाने पर स्वयं शिवस्वरूप हो जाता है, यह सारा विश्व उसके सामने स्वात्म-स्वरूप में ही प्रकाशित हो उठता है। इस तरह से "शिव एवात्मा" (शिव ही सारे विश्व की आत्मा हैं, शिव से भिन्न अन्य किसी की कोई स्थिति नहीं है) इस पंचवर्णमहासूत्र का यहाँ बताया गया विस्तृत अर्थज्ञान ही मुक्ति का कारण बन सकता है।

इसी महासूत्र में ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न चैतन्य के स्वरूप का बोध कराने वाले शिवसूत्रों का तथा षट्स्थल ब्रह्म एवं छत्तीस तत्त्वों के स्वरूप के प्रतिपादक ब्रह्मसूत्रों का, इतना ही क्यों? समस्त श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम और उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषयों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत पंचवर्णमहासूत्र के इस भाष्य में संक्षेप में सभी शास्त्रों का सामंजस्य बैठा दिया गया है।

इसीके साथ यह भाष्य समाप्त होता है। इसके परिशिष्ट के रूप में यहाँ प्रस्तुत भाष्यकार के शिष्य श्री चिक्कनंजेश के द्वारा रचित "श्रीजगद्गुरु-विश्वकर्णविजय-नक्षत्रमालिका" का समावेश किया गया है। 'नक्षत्रमालिका' नाम के अनुरूप इसमें २७ श्लोक हैं। प्रारंभ में उपोद्घात भाग के ७ श्लोक इनसे भिन्न हैं। उनमें भगवान् शिव, शक्ति, विश्वकर्ण, गणेश्वर, गुरु सिद्धनंजेश और चन्नवीराम्बिका को नमन कर ग्रन्थकार नक्षत्रमालिका के ग्रथन की प्रतिज्ञा करते हैं।

आगे के २७ श्लोकों में कैलास पर्वत पर देवताओं से परिवृत शिव गणेश्वर विश्वकर्ण को बुलाकर शिवभक्ति के प्रचार के लिए उनको भूलोक में जाने की आज्ञा देते हैं। उनके काशी में जाकर विश्वेश्वर शिवलिंग से प्रकट होने, नारद मुनि के द्वारा इसका सूचना काशीराज दिवोदास को देने, राजा दिवोदास के आह्वान पर उसमें शक्तिपात के चिह्नों को देख कर दीक्षापूर्वक लिंगांगतत्त्व का उपदेश देने और राजा दिवोदास द्वारा वीरशैव मत का प्रचार करने की चर्चा की गई है।

इसके उपरान्त विश्वकर्ण शिवाचार्य के आकाश मार्ग से महर्षि दुर्वासा के आश्रम में जाने, दिव्यदृष्टि से उनके पहिचाने जाने, दिव्य जंगमवेश में उनके आश्रम में उतरने और उनके आगमन से आश्रम में हर्षोल्लास के छा जाने की स्थिति का वर्णन करते हुए यहाँ बताया गया है कि महर्षि दुर्वासा विश्वकर्ण शिवाचार्य से शिवात्मतत्त्व का उपदेश करने की प्रार्थना करते हैं और वे "शिव एवात्मा" इस 'पंचवर्णमहासूत्र' का उपदेश देते हुए उसकी संक्षिप्त व्याख्या करते हैं।

वे कहते हैं कि चेतन, अचेतन, सूक्ष्म रूप शक्ति से विशिष्ट शिव ही एकमात्र तत्त्व है, यही सारे विश्व की आत्मा है। इस पूर्ण स्वतन्त्र चेतन तत्त्व

की ज्ञानशक्ति ही चिच्छक्ति है और क्रियाशक्ति ही अचिच्छक्ति है। इस ज्ञानक्रियात्मक चेतन-अचेतनशक्ति से युक्त परमात्मा ही शिव है। यही अपनी इन सूक्ष्म शक्तियों के साथ स्थूल विश्व का आकार ग्रहण करता है, तो वह जीव कहलाता है। शिव का अंश होते हुए भी यह जीव त्रिविध मलों से आवृत हो क्रमशः पर, सूक्ष्म और स्थूल देहों को धारण कर त्रिविध दशा से घिर जाता है।

जब यह जीव (अंग) शक्तिपात (शिवानुग्रह) से संपन्न हो, सद्गुरु के उपदेश से त्रिविध दीक्षा से त्रिविध शरीरों और मलों से मुक्त होने के लिए भाव-प्राण-इष्ट नामक त्रिविध लिंगतत्त्व की आराधना में लग जाता है, तो अन्ततः वह पुनः शिवत्व को प्राप्त कर लेता है। उसका यह सच्चित्सुखमय स्वरूप ही तो शास्त्रों में मोक्ष कहलाता है।

इस प्रकार गुरुमुख से शिवाद्वैतभाव को सुनकर दुर्वासा मुनि कृतार्थ हो गये और वीरशैवागम की रचना कर उसके प्रचार में लग गये। अन्त में श्रीजगद्गुरु विश्वकर्ण अपने शिष्य विश्वाराध्य मुनि को काशी के ज्ञानसिंहासन पर प्रतिष्ठित कर वे पुनः विश्वेश्वर लिंग में विलीन हो जाते हैं।

❋ ❋ ❋

# विषयक्रमः

## परिशिष्टम्



❋ ❋ ❋

# पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यम्

## सिद्धनञ्जेशशिवाचार्यविरचितम्

### भाषानुवादसहितम्

*श्रीगणेशाय नमः। श्रीभगवत्पादजगदाचार्यपञ्चाचार्येभ्यो नमः। श्रीसद्गुरु-सिद्धचैतन्याय नमः। श्रीभगवत्पादनीलकण्ठशिवाचार्यचरणारविन्दाभ्यां नमः। अथ श्रीभगवत्पादजगदाचार्यविश्वकर्णशिवाचार्यप्रणीतपञ्चवर्णमहासूत्रस्य भाष्यं लिख्यते। शुभमस्तु, शोभनमस्तु, सर्वान्तराया नश्यन्तु, ग्रन्थसमाप्तिरस्तु, कल्याणमस्तु॥*

नमः शिवाय शान्ताय सच्चिदानन्दरूपिणे।
षट्त्रिंशत्तत्त्वबीजाय साम्बाय परमात्मने ॥१॥

त्रिपदार्थं चतुष्पादं महातन्त्रं जगद्गुरुः।
सूत्रेणैकेन संक्षिप्य प्राह यस्तं नमाम्यहम् ॥२॥

वेदव्यासं सूत्रकारं चैतन्यं वृत्तिकारकम्।
भाष्यकृन्नीलकण्ठार्यमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये ॥३॥

---

शान्त, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, छत्तीस तत्त्वों की उत्पत्ति के बीज, माँ भगवती पार्वती के साथ विराजमान, परमात्मा भगवान् शिव को मैं प्रणाम करता हूँ॥१॥

जगद्गुरु भगवान् शिव ने पति-पशु-पाश नामक तीन पदार्थों के प्रतिपादक ज्ञान(विद्या)-क्रिया-योग-चर्या नामक चार पादों वाले महातन्त्र के समस्त प्रतिपाद्य विषय को संक्षिप्त कर एक ही पंचवर्णसूत्र के द्वारा प्रतिपादित कर दिया है। उनको मैं नमन करता हूँ॥२॥

ब्रह्मसूत्र के रचयिता वेदव्यास को, वृत्तिकार चैतन्य को, भाष्यकार आर्य नीलकण्ठ को मैं अपनी अभीष्ट मनोकामना की प्राप्ति के लिये, अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना के लिये इन सबकी सहायता चाहता हूँ॥३॥

जीयाच्छ्रीमच्छिवादित्यः शिवाचार्यशिरोमणिः ।
यमाहुर्भीषणं सिंहं तर्कदुर्गमकानने ।।४।।

विश्वेश्वरशिवाचार्यो विश्वेश्वरसमप्रभः ।
विश्वमेतत् सदा पातु विश्वपालनतत्परः ।।५।।

जीयाच्छ्रीनीलकण्ठार्यः शिवाचार्यशिरोमणिः ।
यः श्रीमद्ब्रह्मसूत्राणां भाष्यमाद्यमरीरचत् ।।६।।

चिद्घनानन्दयोगीन्द्रं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
शिष्यसन्दोहमन्दारं वन्दे नन्दीश्वरप्रभम् ।।७।।

शिवानुभवयोगीन्द्रो ह्यनाथानन्दलाञ्छनः ।
शिवं तनोतु सततं शिवतत्त्वविशारदः ।।८।।

---

शिवाचार्यों में सर्वश्रेष्ठ शिवादित्य शिवाचार्य सब पर विजय प्राप्त करने वाले हैं। इसीलिये इनको दुर्गम वन सदृश तर्कशास्त्र के दुर्गम पथ पर विचरण करने वाले भयानक सिंह की उपमा दी जाती है। मैं इनकी जय-जयकार करता हूँ।।४।।

समस्त विश्व के पालन में सदा लगे हुए भगवान् काशी विश्वनाथ के समान प्रभावशाली विश्वेश्वर शिवाचार्य इस संसार की सदा रक्षा करें।।५।।

शिवाचार्यों में सर्वश्रेष्ठ आर्यश्री नीलकण्ठ शिवाचार्य सर्वत्र विजय प्राप्त करें। इन्होंने श्रीमद् ब्रह्मसूत्रों पर सर्वप्रथम भाष्य की रचना की थी।।६।।

सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, नन्दीश्वर के समान प्रभाव-सम्पन्न, शिष्यों के समूह की मनोकामनाओं को पूरा करने में मन्दार (देवतरु) वृक्ष के समान समर्थ, योगीश्वर चिद्घनानन्द को मैं नमन करता हूँ।।७।।

असहायों की सहायता कर उनको सुख पहुँचाना जिनका स्वभाव हैं, शिवतत्त्व का ज्ञान कराने वाले शास्त्रों में जो निष्णात हैं, ऐसे योगीश्वर शिवानुभव शिवाचार्य सबके लिये सदा सुख का विस्तार करें।।८।।

सत्प्रभानन्दतत्त्वज्ञः स्वप्रभानन्ददेशिकः ।
स्वप्रभोद्यद्रसस्वादात् स्वशिष्यान् पालयेत् सदा ॥९॥

बालानां सुखबोधाय मुमुक्षूणां हिताय च ।
पञ्चवर्णमहासूत्रं व्याकरोमि यथामति ॥१०॥

पुरा किल श्रीमद्भगवत्परशिवप्रेरितविश्वेश्वरमहालिङ्गजनिः श्रीजगद्गुरु-विश्वकर्णशिवाचार्यः "पराद्वयसामरस्यापादकासारेऽस्मिन् लोके लिङ्गाङ्गसामरस्य-रहस्यसम्प्रदायो मा विच्छेदि" इत्याशयतः स्वशिष्याणां दूर्वासादिमहर्षीणामशेष-विश्वाभेदमयपूर्णाहंविमर्शनात्मकं शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादकं शिवशक्ति-जीवेति त्रिपदार्थसामरस्यनिदानभूतं ज्ञानक्रियायोगचर्यापादसुबोधकं कामिकादि-वातुलान्ताष्टाविंशतिदिव्यागमरूपमहातन्त्रसारसमष्टिरूपं जीवेश्वरभेदवादिप्रतिपक्षेण

---

सत्-प्रभा(चित्)-आनन्द स्वरूप, इनके रहस्यों को जानने वाले, देशिक-प्रवर (आचार्य) स्वप्रभानन्द अपने ज्ञान के तेज से स्रवित हो रहे ज्ञान-प्रवाह रूपी रस से अपने शिष्यों को सदा पुष्ट करते रहें॥९॥

इस शास्त्र से अनभिज्ञ व्यक्तियों को सरलता से इस शास्त्र का ज्ञान हो सके और मुमुक्षुजनों का कल्याण हो सके, एतदर्थ मैं पंचवर्णमहासूत्र की अपनी बुद्धि के अनुसार व्याख्या कर रहा हूँ॥१०॥

पुराने समय की यह बात प्रसिद्ध है कि श्रीमान् भगवान् परमशिव की प्रेरणा से काशी-विश्वेश्वर महालिंग (ज्योतिर्लिंग) से जगद्गुरु विश्वाराध्य महामुनि का प्रादुर्भाव हुआ था। "परम अद्वयतत्त्व के साथ सामरस्य को दिलाने वाला, इस असार संसार में लिंगांगसामरस्य स्वरूप के रहस्य को समझाने वाला यह वीरशैव सम्प्रदाय उच्छिन्न न हो जाय" इस अभिप्राय से उन्होंने अपने शिष्यों को, दुर्वासा आदि महर्षियों को समस्त विश्व के साथ अभेद रूप से भासित हो रही पूर्णाहन्ता का बोध कराने वाले शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक शास्त्र का उपदेश किया। इस शास्त्र में शिव, शक्ति और जीव नामक तीन पदार्थों की समरसता को दिखाने वाले, ज्ञान-क्रिया-योग-चर्या नामक चार पादों में अपने विषयों को सुस्पष्ट करने वाले, कामिक से लेकर वातुल पर्यन्त अट्ठाईस दिव्य आगमों के समष्टि-स्वरूप महातन्त्र के सार को समेट लेने के अभिप्राय से '**शिव एवात्मा**'' इन पाँच वर्णों की समष्टि

शिवपरमार्थतश्चैतन्यमेव विश्वस्य स्वभाव इति महासूत्रमुपदिशति—"शिव एवात्मा" इति।

अत्र शिवशब्देन— "उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः", "अनादिमलसंश्लेषप्रागभावात् स्वभावतः। अत्यन्तपरिशुद्धात्मा शिव इत्यभिधीयते।। अथवानन्तकल्याणगुणैकनिधिरीश्वरः। शिव इत्युच्यते सद्भिः शिवतत्त्वार्थवेदिभिः।।" इतिवचनसिद्धसर्वज्ञं सर्वैश्वर्यसम्पन्नं सर्वानुग्राहकं सर्वकर्मसमाराध्यं निरस्तसमस्तदोषकलङ्कं निरतिशयमाङ्गल्यगुणरत्नाकरं स्वभावनिर्मलदृक्क्रियालक्षणशक्तिविशिष्टं शिवतत्त्वमभिधीयते। तादृशशक्तिर्हि भगवतः शिवस्य धर्मरूपं चैतन्यमेव। चेतयत इति चेतनः सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्रः, तस्य भावश्चैतन्यं सर्वज्ञान[क्रिया]सम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यमुच्यते। तच्च परब्रह्मणो भगवतः शिवस्यैवास्ति, अनाश्रितान्तानां तत्परतन्त्रवृत्तित्वात्।

---

के रूप में एक ही पंचवर्णमहासूत्र की रचना की थी। यहाँ जीव और ईश्वर के भेद को प्रतिपादित करने वाले भेदवाद का निराकरण कर शिवचैतन्य ही परमार्थतः विश्व का स्वभाव है, इस विषय को स्पष्ट किया गया है।

यहाँ **शिव** शब्द से शिवतत्त्व का बोध होता है। भगवद्गीता में जीवात्मा से भिन्न उत्तम पुरुष के रूप में शिव को ही परमात्मा कहा गया है। अन्यत्र भी बताया गया है — "अनादिकाल से चले आ रहे मल से स्वभावतः जिसका सम्पर्क नहीं होता, वह अत्यन्त परिशुद्ध आत्मा ही **शिव** के नाम से प्रसिद्ध है। अथवा अनन्त कल्याण-गुणों के एकमात्र खजाने ईश्वर को ही शिवतत्त्व के जानकार साधु-सन्त शिव के नाम से जानते हैं।।" इन शास्त्रवचनों के आधार पर हम जानते हैं कि यह शिवतत्त्व सर्वज्ञ, सभी ऐश्वर्यों से सम्पन्न, सब पर अनुग्रह करने वाला, सभी प्रकार के कर्मों से समाराधनीय, सभी प्रकार के दोष-रूपी कलंक से अस्पृष्ट, अनन्त प्रकार के मंगलमय कल्याणमय गुणों का समुद्र, स्वभावतः निर्मल दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति से संपन्न है। इस तरह की शक्तियाँ भगवान् शिव के धर्मरूप चैतन्य से अभिन्न हैं। **चैतन्य** शब्द से सभी प्रकार की ज्ञान और क्रियाशक्ति से संबद्ध परिपूर्ण स्वातन्त्र्य का बोध होता है। चेतन पुरुष ज्ञान और क्रियाशक्ति से संपन्न होता है। इस प्रकार का चैतन्य परब्रह्म भगवान् शिव में ही विद्यमान है, क्योंकि अनाश्रित पर्यन्त सभी प्राणी इन्हींके अधीन हैं।

यद्यपि चैतन्यशब्देनैव परब्रह्मण: सङ्कीर्तनमुक्तम्, तथापि "ब्रह्मविदाप्नोति परम्", "ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति", "ईशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति", "तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातु: प्रसादान्महिमानमीशम्", "आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनादेव पाशं दहति पण्डित:।।", "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापै:" इत्यादिश्रुत्यनुसारेण "समेधयति यन्नित्यं सर्वार्थानामुपक्रमम्। शिवमिच्छन् मनुष्याणां तस्माद्देव: शिव: स्मृत:।।" इति महाभारतोक्तशिवशब्दस्य मनुष्यादिहितैषित्वतत्प्रारिप्सितपुरुषार्थोपभोगिसकलव्यापारसमेधयितृत्वप्रवृत्ति-निमित्तकत्वेन शिष्याणां तत्संकीर्तनतदर्थानुसन्धानपूर्वकमेतत्सूत्रकथने सति शिवप्रसादान्निरन्तरचैतन्यानुसन्धानपरिप्राप्त-सकलपुरुषार्थसिद्धिर्भवतीति तत्सिद्ध्यर्थं शिवशब्देन विशेषनिर्देश: कृत:।

---

यद्यपि चैतन्य शब्द से ही परब्रह्म (परमशिव) का बोध कराया जाता है, तो भी "ब्रह्मवेत्ता परम (शिव) पदवी को प्राप्त करता है", "शिव को जानकर अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है", "उस ईश्वर को जान लेने वाले अमर पदवी को प्राप्त कर लेते हैं", "सभी प्रकार के पशु-कर्मों से प्राप्त न होने वाले भगवान् शिव का सभी प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त जीव ही साक्षात्कार कर पाता है। भगवान् की कृपा से ही वह उनकी महिमा को समझ पाता है", "अपनी आत्मा को पूर्व अरणि और प्रणव (ॐकार) को उत्तर अरणि बना कर ध्यानरूपी रज्जु के सहारे इनका मन्थन कर ज्ञानी अपने पाशजाल को जला डालता है", "भगवान् शिव को जानकर सभी पापों से मुक्त हो जाता है" इन सब श्रुतियों के प्रमाण से और "भगवान् शिव सभी मनुष्यों का कल्याण करने की इच्छा से सदा सभी प्रकार की अभीष्ट वस्तुओं की समृद्धि को बढ़ाते रहते हैं, इसीलिये इनको शिव कहा जाता है।" महाभारत के इस वचन के अनुसार भी **शिव** शब्द का प्रयोग मनुष्य आदि के हितचिन्तक, उनके द्वारा प्रारब्ध किये गये पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये उपयोगी कार्यकलाप को बढ़ाने वाले, सभी प्रकार की प्रवृत्तियों के निमित्तकारण, शिष्यों को अर्थानुसन्धान पूर्वक जप में प्रवृत्त कराने के लिये इस मन्त्र का (पंचवर्णमहासूत्र) का उपदेश करते हैं। इससे शिष्यों को शिव की कृपा से निरन्तर चैतन्य स्वरूप का अनुसन्धान होते रहने के कारण समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसी सिद्धि की प्राप्ति के लियें यहाँ विशेष रूप से **शिव** शब्द का निर्देश किया गया है।

'वश कान्तौ' इति धातोर्वर्णव्यत्ययेन सिद्धः शिवशब्दः पृषोदरादिः। तदाहुः — "हिसिधातोः सिंहशब्दो वश कान्तौ शिवः स्मृतः। वर्णव्यत्ययतः सिद्धौ पश्यकः कश्यपो यथा॥" इति। तेन शिवशब्दस्येच्छावानित्यर्थलाभे कस्मिन्निति तद्विषयाकाङ्क्षायाम्— "समा भवन्ति मे सर्वे दानवाश्चामराश्च ये। शिवोऽस्मि सर्वभूतानां शिवत्वं तेन मे सुराः॥" इति महाभारतस्थशिववचनानुरोधेन देवासुरमनुष्यादीनां शिवे(व)विषय[त्व]मित्ययमर्थः "शिवमिच्छन्मनुष्याणाम्" इत्यार्षवचनप्रामाण्याल्लभ्यते। समेधयतीति व्युत्पत्त्यन्तरं तु शिवशब्दात् शुभवाचिनस्तत्करोतिण्यन्तात्पचाद्यच्प्रत्ययेन लभ्यते। व्युत्पत्तिद्वयनिष्पन्नस्याऽपि शिवशब्दद्वयस्य परब्रह्मवाचकस्य तन्त्रेणोच्चार्यमाणो(णत्वादु)क्तार्थसिद्धिः।

---

'वश कान्तौ' यह धातु पाणिनि-धातुपाठ में पठित है। पृषोदरादि गण में पठित होने से इसके वर्णों का व्यत्यय हो जाता है, अर्थात् **श** का पहले और **व** का बाद में उच्चारण होता है। इस तरह से शिव शब्द बनता है। व्याकरण शास्त्र में बताया गया है — "हिसि धातु से सिंह शब्द, वश कान्तौ धातु से शिव शब्द उसी तरह से वर्णों के व्यत्यय से बनते हैं, जिस तरह पश्यक से कश्यप बना है।" इस व्युत्पत्ति के अनुसार शिव शब्द का अर्थ होता है — इच्छावान्। किस विषय में शिव की इच्छा है? इस जिज्ञासा के उठने पर महाभारत में स्वयं भगवान् शिव ने अपनी इच्छा को इस प्रकार प्रकट किया है— "मेरी दृष्टि में दानव और देवता एक सरीखे हैं। मैं सभी प्राणियों का कल्याण करता हूँ। हे देवताओं! इसीलिये मैं शिव कहलाता हूँ।" इस तरह देव, असुर, मनुष्य आदि सभी प्राणी शिव की कृपा के पात्र (विषय) हैं। इस अर्थ की पुष्टि — "यह मनुष्यों का कल्याण चाहता है" इस आर्ष (ऋषि) वचन के प्रमाण से भी होती है। "समेधयति" इत्यादि महाभारत के वचन में निर्दिष्ट दूसरी व्युत्पत्ति के अनुसार शिव सभी प्राणियों के लिये सदा उनके अभीष्ट मनोरथों को बढाते हैं। यहाँ शुभवाचक शिव शब्द से 'शिवं करोति' इस अर्थ में ण्यन्त तथा पचाद्यच् प्रत्ययों के होने से ये दोनों अर्थ प्राप्त होते हैं। इन दोनों व्युत्पत्तियों से बने दोनों शिव शब्दों का वाचक यद्यपि परब्रह्म (परशिव) ही है, तो भी इनका अलग अलग दो बार उच्चारण करने पर ऊपर प्रदर्शित अर्थों का भी बोध हो जाता है।

अपि च— ''विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टा रुद्रैकादशिनी श्रुतौ। तस्यां पञ्चाक्षरी तत्र शिव इत्यक्षरद्वयम्।।'' इति सर्वविद्याशिरोरत्नायमाणेन भगवता वेदेन प्रतिपादितं शिवशब्दवाच्यमेव परब्रह्मचैतन्यमिति सिद्धम्।

इत्थं धर्म्यन्तरप्रतिक्षेपश्च एवकारेण दर्शित:। स एवात्मा, न पुनरन्ये केऽपि लौकिक-चार्वाक-वैदिक-योगाचार-माध्यमिकाद्यभ्युपगता: शरीर-प्राण-बुद्धि-शून्यादय आत्मा, अपि तु यथोक्तस्वभावनिर्मलदृक्क्रियालक्षणशक्तिविशिष्टं शिवतत्त्वमेव, तस्यैव शरीरादिकल्पितप्रमातृपदेऽप्यकल्पिताहंविमर्शमयसत्य-प्रमातृत्वेन स्फुरणात्। तदुक्तम्— ''परमात्मस्वरूपं तु सर्वोपाधिविवर्जितम्। शिवत्वमात्मनो रूपं सच्चिदानन्दलक्षणम्।।'' इति।

किञ्च, विज्ञानभैरवे— ''चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित्। अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन् भवजिज्जन:।।'' इति। किञ्च, यदेतच्चैतन्य-

---

एक बात और है — ''सभी विद्याओं में श्रुति (वेद) श्रेष्ठ है, श्रुति में रुद्रैकादशिनी (रुद्राध्याय) श्रेष्ठ है, इसमें भी पंचाक्षरी विद्या की श्रेष्ठता मानी गई है और अन्तत: उससे भी श्रेष्ठ मान्यता 'शिव' इन दो अक्षरों की है।'' इस प्रकार सभी विद्याओं के शिरोमणि भगवान् वेद के द्वारा प्रतिपादित शिव शब्द ही परब्रह्म चैतन्य का बोधक है, यह स्पष्ट है।

''**शिव एवात्मा**'' इस वाक्य में स्थित 'एव' शब्द अन्य धर्मों का परिहार करता है। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि शिव ही आत्मा है; अन्य लौकिक, चार्वाक, वैदिक, योगाचार (विज्ञानवादी), माध्यमिक (शून्यवादी) आदि मत-मतान्तरों में अभिप्रेत शरीर, प्राण, बुद्धि, शून्य आदि को आत्मा नहीं माना जाता, किन्तु पूर्व में शिव का जो स्वरूप निर्दिष्ट है, तदनुरूप स्वभाववाला, निर्मल दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति से संपन्न शिवतत्त्व ही वस्तुत आत्मा है। यह शिव ही शरीर-प्राण-बुद्धि के रूप में कल्पित प्रमाता में अकल्पित अहंविमर्शमय सत्य प्रमाता के रूप में स्फुरित होता है। जैसा कि कहा गया है — ''परमात्मा का स्वरूप तो सभी प्रकार की उपाधियों से रहित है। सत्-चित्-आनन्द स्वरूप शिवत्व ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है।''

विज्ञानभैरव में भी इस विषय की चर्चा हुई है —''सभी प्राणियों के शरीर में एक ही चितिशक्ति विराजमान है। इनमें परस्पर कोई विशेषता नहीं है। अत: सर्वत्र इस एकरसता की भावना करने वाला व्यक्ति इस संसार को

शिवतत्त्वमुक्तम्, स एवात्मा स्वभावो विशेषाचोदनाद्भावाभावरूपस्य विश्वस्य। नह्यचेत्यमानः कोऽपि कस्यापि कदाचिदपि स्वभावो भवति। चेत्यमानस्तु स्वप्रकाशचिदेकीभूतत्वाच्चैतन्यं शिवतत्त्वमेवात्मा। यतः शिव एव विश्वस्य स्वभावस्तत एव तत्साधनाय प्रमाणवराकोऽप्यनुपयुक्तः, तस्याऽपि स्वप्रकाश-चैतन्याधीनसिद्धिकत्वात्, चैतन्यस्य प्रोक्तयुक्त्या केनाप्यावरीतुमशक्यत्वात्, सदा प्रकाशमानत्वात्। अतः सच्चिदानन्दलक्षणं परब्रह्मशिवतत्त्वमेव स्वप्रकाशीभूतविश्वस्यात्मेति सुसङ्गतम्।

एवं सच्चिदानन्दपरब्रह्मैव स्वप्रकाशीभूतेच्छाशक्तिस्फुरणवशात् षट्त्रिंशत्त-त्त्वात्मना भिद्यते, "यद्भासा भासते विश्वम्" इति श्रुतेः, "अनादिनिधनाच्छान्ता-च्छिवात् परमकारणात्। इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया।। तयोत्पन्नानि

---

जीत लेता है।" स्पष्ट है कि यहाँ जिस चैतन्य को शिवतत्त्व कहा गया है, वही समस्त भाव और अभाव स्वरूप विश्व का आत्मा, अर्थात् स्वभाव है, क्योंकि इनके लिये अलग से कुछ कहा नहीं गया है। अचेतन का कहीं कोई स्वभाव नहीं दिखाई पड़ता। इसके विपरीत चेतन तो अपने प्रकाश से एकाकार है, अतः चैतन्य शिवतत्त्व ही आत्मा है। यतः शिव ही विश्व का स्वभाव है, अतः इसको सिद्ध करने के लिये किसी अन्य प्रमाण की भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसकी भी सिद्धि अपने को प्रकाशित करने वाले चैतन्य के ही अधीन है। ऊपर बताई गई युक्तियों के आधार पर चैतन्य को कोई भी ढक नहीं सकता, क्योंकि वह सदा प्रकाशमान है। इस तरह से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परब्रह्म ही शिवतत्त्व है। वही अपने से प्रकाशित होने वाले इस सारे विश्व की आत्मा है। इस तरह से "**शिव एवात्मा**" इस पंचवर्णसूत्र की सुसंगत व्याख्या हो जाती है।

यह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परब्रह्म अपने में ही प्रकाशित हो रही इच्छाशक्ति का स्फुरण होने पर छत्तीस तत्त्वों के रूप में विभक्त हो जाता है। श्रुति कहती है — "इसीके प्रकाश से यहा सारा विश्व प्रकाशित होता है"। आगम का भी कहना है — "आदि और अन्त से रहित, शान्त स्वरूप, सबके परमकारण भगवान् शिव से पहले इच्छाशक्ति और तब ज्ञान और क्रियाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। बाद में यहीं से चतुर्दश भुवनों और उनमें

भूतानि भुवनानि चतुर्दश ।।" इत्यागमोक्तेश्च। एषु चिदचिच्छक्तिविशिष्टस्य परब्रह्मणो भगवतः परमशिवस्य उपचारत्वे(तस्तत्त्वे)षु परिगणनामात्रम्, न तु वास्तवं तत्त्वान्तर्भूतत्वम्।

अथ स्वेच्छाशक्तेर्बहिरङ्गरूपक्रियांशप्रविष्टोद्योग एव भाविविश्वोपादानकारणं शक्तितत्त्वं भवति। एतत्पुंभावविलास एव नारायणः। अथैवंविधशक्तितत्त्वमेव स्वेच्छाशक्त्यन्तरङ्गभूतज्ञानशक्त्युद्रेकावस्थाप्रविष्टं सद् जलाधिवासितचणकादिवत् पूर्वावस्थावैलक्षण्येनाङ्कुरायमाणेदन्ताप्रथनरूपं गर्भावरकवत् स्वाहन्तयाऽऽच्छाद्य वर्नमानविश्वस्फुरणरूपं सादाख्यरुद्रतत्त्वं भवति। अथ तच्छक्तितत्त्वमेव स्वक्रिया-शक्त्युद्रेकदशायां प्रविष्टं सत् कृतवस्तुवदङ्कुरितमिदन्तारूपं स्वाहन्तयाच्छाद्य स्थितविश्वस्फूर्तिमयमीश्वरतत्त्वं भवति। अथ क्रियाप्रधानेदन्तायाः संविद्रूपा-

---

रहने वाले भूतों की उत्पत्ति होती है।" इनमें चित् और अचित् शक्ति से विशिष्ट परब्रह्मस्थानीय भगवान् परशिव की गणना औपचारिक रूप से की जाती है। वास्तव में तत्त्वों के अन्तर्गत इनकी गणना नहीं होती।

अब जब अपनी शक्तियों के साथ भगवान् शिव बहिरुन्मुख होते हैं, तो अपनी इच्छाशक्ति के बहिरंग स्वरूप क्रियाशक्ति के अंश में प्रविष्ट हुआ उद्योग ही भावी विश्व के उपादानकारण-भूत शक्तितत्त्व के रूप में प्रकट होता है। भगवान् नारायण इसी शक्ति का पौरुष विलास है। यही शक्तितत्त्व अपनी इच्छाशक्ति के अन्तरंग स्वरूप ज्ञानशक्ति में प्रकट अवस्था में जब प्रविष्ट होता है, तो उस समय जल में भिगोये चने के बीज के समान पूर्व अवस्था से विलक्षण अंकुरोन्मुख अवस्था में प्रविष्ट हो, इदन्ता रूपी अवस्था को गर्भावस्था के समान अपनी अहन्ता से आच्छादित कर वर्तमान विश्व का स्फुरण कराने के लिये सादाख्य रुद्रतत्त्व बन जाता है। इसके उपरान्त वही शक्तितत्त्व अपनी क्रियाशक्ति के प्रकट अवस्था में आने पर बनी हुई वस्तु के रूप में अंकुरित बीज के समान अपने इदन्ता रूप को अपनी अहन्ता से आच्छादित कर वर्तमान विश्व का स्फुरण कराने वाला ईश्वरतत्त्व बन जाता है। अब वही शक्तितत्त्व क्रियाशक्ति-प्रधान इदन्ता के संवित्स्वरूप अहन्ता के अन्तर्गत भासित होने पर विभागावस्था की कारणस्वरूप भेददशा के व्यक्त हो जाने पर सागर-तरंग न्याय से अहन्ता और इदन्ता में जब एकात्मता की

हन्ताऽन्तर्गतत्वेन भासमानत्वाद् विभागनिबन्धनभेदघटितसागरतरङ्गन्यायेना-हन्तेदन्तयोरैक्यप्रतिपत्तिर्ब्रह्मापरपर्यायशुद्धविद्यातत्त्वं भवति।

अथैवंविधशुद्धविद्यातत्त्वमेवाण्डरसन्यायेन स्वान्तर्लीनेषु भवनक्रियोन्मुखेषु भावेष्वन्योन्याभावनिबन्धनभेदबुद्धिप्रधानं सद् मायातत्त्वं भवति। अथास्य पुरुषस्य महेश्वराद्विभक्तत्वेन मायापहृतैश्वर्यत्वात् (अ?)संकुचिततत्कर्तृताशक्तिरेव किञ्चित्कर्तृतालक्षणं कलातत्त्वं भवति। अथास्य पुरुषस्य ज्ञातृताशक्तिरेव किञ्चिज्ज्ञत्वलक्षणमविद्यातत्त्वं भवति। तथा पूर्णताशक्तिरेवापूर्णतां प्राप्य स्रक्चन्दनवनितादिविषयासक्तिलक्षणं रागतत्त्वं भवति। तथा नित्यतां चानित्यतां प्राप्य भूतभविष्यद्वर्तमानरूपक्रमकरं कालतत्त्वं भवति। तथा व्यापकता ह्यव्यापकतां प्राप्य मयेदं कर्तव्यमिति नियमहेतुभूतं नियतितत्त्वं भवति।

---

प्रतिपत्ति होने लगती है, तो यही स्थिति शुद्धविद्या तत्त्व के नाम से जानी जाती है। इसी स्थिति का दूसरा नाम ब्रह्म है।

अब इस तरह से निष्पन्न हुआ यह शुद्धविद्या तत्त्व ही मयूराण्डरस-न्याय से अपने भीतर छिपे हुए, अथच प्रकट होने के लिये आतुर सभी सांसारिक पदार्थों में परस्पर एक-दूसरे के अभाव के रूप में भेदबुद्धि को पैदा करने वाली मायाशक्ति (तत्त्व) का सृजन करता है। यह मायाशक्ति महेश्वर से पुरुष (जीवात्मा) में भेदबुद्धि पैदा कर देती है, मायाशक्ति के कारण पुरुष का ऐश्वर्य अपहृत हो जाता है। तब इसकी कर्तृता-शक्ति ही संकुचित होकर किंचित्कर्तृता रूप कलातत्त्व बन जाता है। इसी तरह पुरुष की ज्ञातृता-शक्ति ही किंचिज्ज्ञत्व के रूप में अविद्यातत्त्व का आकार ग्रहण कर लेती है। इसी तरह से पुरुष की पूर्णता-शक्ति ही अपूर्णता को प्राप्त कर माला, चन्दन, वनिता जैसे विषयों में आसक्ति को पैदा करने वाले रागतत्त्व का स्वरूप धारण कर लेती है। तथा नित्यता-शक्ति अनित्यता में बदल जाती है। तब भूत, भविष्यत् और वर्तमान नामक त्रिविध कालों के क्रम को निष्पन्न करने वाला कालतत्त्व उद्भूत हो जाता है। इसी तरह पुरुष की व्यापकता अव्यापकता में बदल जाती है, तो मुझे यह करना है, इस तरह से उस पर नियन्त्रण स्थापित करने वाला नियतितत्त्व बन जाता है। इस प्रकार ये कला आदि पाँच तत्त्व शिव के शासन से पुरुष के अपरिच्छिन्न स्वरूप को ढक देते हैं। इसलिये इनको **कंचुक** कहा जाता है। इन पाँच कंचुकों से आच्छादित

एवंविधकलादिपञ्चकमस्य पुरुषस्य शिवशासनादपरिच्छिन्नस्वस्वरूपावरणहेतुत्वात् कञ्चुकमित्युच्यते। एतत्कञ्चुकाच्छादितः काष्ठयोगेन वह्नेर्विस्फुलिङ्गाविर्भाववत् तदिच्छाशक्तिवशाद् विभक्तः सन् उक्तलक्षणमायाशक्तौ प्रतिबिम्बगत्या प्रविष्टो यः प्रकाशः, स पुरुषतत्त्वं भवति। अस्वतन्त्रप्रकाशोऽसौ, महेश्वराद्विलक्षणत्वेन मायाक्रान्तत्वात्।

अथो(थौ)न्मुख्यगर्भितेच्छाशक्तिरेव प्रतिस्फुरणगत्या स्वगतज्ञानक्रियान्योन्याभावलक्षणं मायाप्रतिस्फुरणरूपं सुखदुःखमोहप्रदं सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थालक्षणमहङ्कारादिभूम्यन्तत्रयोविंशतितत्त्वमूलकारणं प्रकृतितत्त्वं भवति। अथाहंममेदमित्यभिमानसाधनमहङ्कारतत्त्वं भवति। निश्चयहेतुरध्यवसायरूपं बुद्धितत्त्वं भवति। स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सङ्कल्पविकल्पसाधनं मनस्तत्त्वं भवति। एतत्त्रितयं शरीरान्तःस्थित्वा सुखदुःखादिवेद्यावधानकरणरूपत्वादन्तःकरणमित्युच्यते।

---

आत्मा अग्नि और इन्धन का संयोग होने से जैसे चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी तरह ईश्वर की इच्छा से जीवात्मा विभक्त हो जाता है और वह ऊपर बताई गई मायाशक्ति के अधीन हो जाता है। प्रतिबिम्ब के रूप में यहाँ जो प्रकाश प्रविष्ट होता है, वही पुरुषतत्त्व कहलाता है। इस तरह इस प्रकाश के परतन्त्र हो जाने के कारण यह महेश्वर से विलक्षण स्वरूप का हो जाता है, क्योंकि यह मायाशक्ति से आक्रान्त हो गया है।

अब गर्भ में से बाहर निकलने के लिये उत्सुक इच्छाशक्ति ही जब अग्नि-स्फुलिंग-न्याय से बाहर निकलती है, तब वह अपने में विद्यमान ज्ञान और क्रिया शक्ति का अन्योन्याभाव हो जाने पर मायाशक्ति के प्रतिस्फुरण से सुख-दुःख-मोहात्मक सत्त्व, रज और तम नामक तीनों गुणों की साम्यावस्था-रूप प्रकृति तत्त्व की सृष्टि होती है। यह प्रकृति अहंकार से लेकर भूमि पर्यन्त तेईस तत्त्वों की मूलकारण है। इस प्रकृति से 'अहम्, ममेदम्' (यह मैं हूँ, यह मेरा है) इस तरह के अभिमान के उद्भावक अहंकारतत्त्व की, किसी निश्चय पर पहुँचने वाली अध्यवसायात्मक बुद्धितत्त्व की और 'यह स्थाणु है या पुरुष' इस तरह के संकल्प-विकल्प के साधन मनस्तत्त्व की निष्पत्ति होती है। ये तीनों शरीर के भीतर रहते हुए सुख-दुःख आदि वेद्य वस्तुओं की तरफ ध्यान आकृष्ट कराते हैं, अतः इनको अन्तःकरण कहा जाता है।

अथ शरीरबाह्यविषयसम्बद्धं सत् शब्दग्राहकं श्रोत्रम्, स्पर्शग्राहकं त्वक्, रूपग्राहकं चक्षुः, रसग्राहकं रसनम्, गन्धग्राहकं घ्राणं भवति। एतत्पञ्चकं ज्ञानशक्तिप्रधानत्वाद् ज्ञानेन्द्रियमित्युच्यते। इच्छाशक्तिप्रधानान्तःकरणत्रयस्य शब्दाशब्दादिसाधारणत्वादेतस्य शब्दाद्यसाधारणत्वान्नातिव्याप्तिः।

अथोच्चारणक्रियाहेतुर्वाक्, दानादानादिक्रियाहेतुः पाणिः, गमनागमनादिक्रियासाधनं पादम्, भुक्तजीर्णमलपरित्यागसाधनं पायुः, रेतोमूत्रपरित्यागसाधनमुपस्थकं भवति। एतत्पञ्चकं क्रियाशक्तिप्रधानत्वात् कर्मेन्द्रियमित्युच्यते।

अथ श्रोत्रग्राह्यः शब्दः, त्वग्ग्राह्यः स्पर्शः, चक्षुर्ग्राह्यं रूपम्, रसनाग्राह्यो रसः, घ्राणग्राह्यो गन्धः। एतेषां ध्वनिवर्ण-शीतोष्ण-नीलपीत-मधुराम्ल-सुरभ्यसुरभित्वादिविभागशून्यदशायां सामान्यरूपत्वात् तन्मात्ररूपत्वेन व्यपदेशः।

---

इसके आगे शरीर से बाहर के विषयों का संबन्ध होने पर शब्द की ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय की, स्पर्श की ग्राहक त्वगिन्द्रिय की, रूप की ग्राहक चक्षुरिन्द्रिय की, रस की ग्राहक रसनेन्द्रिय की और गन्ध की ग्राहक घ्राणेन्द्रिय की सृष्टि होती है। इनमें ज्ञानशक्ति की प्रधानता होने से ये ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इच्छाशक्ति की प्रधानता वाली त्रिविध आन्तर इन्द्रियाँ शब्द या शब्दभिन्न सभी विषयों का सामान्य रूप से ग्रहण करती है और ये पंचविध ज्ञानेन्द्रियाँ केवल अपने-अपने शब्द आदि एक-एक विषय का ही विशेष रूप से ग्रहण करती है, अतः यहाँ अतिव्याप्ति दोष की प्रसक्ति नहीं होगी।

आगे उच्चारण क्रिया के करण के रूप में वागिन्द्रिय की, आदान-प्रदान क्रिया के करण के रूप में हाथों की, जाने-आने जैसी क्रिया के करण पैरों की, खाये-पीये पदार्थों के पच जाने पर मल के रूप में उनके परित्याग के करण गुदा की और वीर्य एवं मूत्र के परित्याग के करण उपस्थ इन्द्रिय की सृष्टि होती है। इन पाँचों इन्द्रियों में क्रियाशक्ति की प्रधानता है, अतः इनको कर्मेन्द्रिय नाम दिया गया है।

इसके बाद श्रोत्रग्राह्य शब्द की, त्वगिन्द्रिय से ग्राह्य स्पर्श की, चक्षु से ग्राह्य रूप की, जिह्वा से ग्राह्य रस की और नाक से ग्राह्य गन्ध की सृष्टि होती है। इन पाँचों गुणों के क्रमशः ध्वनि और वर्ण, शीत-उष्ण, नील-पीत, मधुर-अम्ल, सुरभि-असुरभि जैसे विभागों की अभिव्यक्ति न होने तक इनकी जो सामान्य स्थिति रहती है, उसको पाँच तन्मात्राओं के नाम से जाना जाता है।

अथ शब्दगुणकमाकाशम्। तच्चैकमनित्यम्, ''आत्मन आकाशः सम्भूतः'' इति श्रुतेः। कम्पनभ्रमणशोषणवेगवान् स्पर्शगुणको वायुः। स चानेकोऽनित्यश्च, ''आकाशाद्वायुः'' इति श्रुतेः। दाहकं पाचकं रूपवत् तेजः। तच्चानेकमनित्यम्, ''वायोरग्निः'' इति श्रुतेः। चन्द्रादिशीततेजसि दाहकत्वाभावेऽपि सस्यादिवर्धनरूपपाचकत्वान्नाव्याप्तिः। द्रावकं प्लावकमाप्यायकं रसवज्जलम्। जलतत्त्वाधारकं पाच्यं गन्धवत् पृथिवीतत्त्वमिति। एतान्याकाशादीनि महाभूतानीत्युच्यन्ते।

एषु षट्त्रिंशत्तत्त्वेषु शिवतत्त्वं विहाय शक्तितत्त्वप्रभृतिभूम्यन्तपञ्चविं(त्रिं)शत्तत्त्वानि चिदचिच्छक्त्यात्मकानि। तदुक्तम्— ''शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमिष्यते। शक्तिरेतज्जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः।। शक्तिस्तु शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न गच्छति। तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव।। शक्तिशक्तिमतोर्यस्मादभेदः

---

आगे शब्द गुण वाले आकाश की सृष्टि होता है। वह एक है और अनित्य है, ''आत्मा से आकाश पैदा हुआ है'' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। स्पर्श गुण वाला और कम्पन, भ्रमण, शोषण एवं वेग स्वभाव वाला वायु है। वह अनेक प्रकार का है और अनित्य है, ''आकाश से वायु पैदा हुआ है'' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। रूप गुण वाला एवं दाहक और पाचक शक्ति वाला तेज कहलाता है। इसके भी अनेक भेद हैं और यह भी अनित्य है, ''वायु से अग्नि पैदा होती है'' यह श्रुति इसमें प्रमाण है। चन्द्र जैसे शीतल स्वभाव के तेज में दाहकता के न रहने पर भी उसमें अन्न की वृद्धि एवं पाचन क्रिया के रूप में यह विद्यमान है, अतः तेजस्तत्त्व के लक्षण की यहाँ अव्याप्ति नहीं है। रस गुण वाला तथा द्रावक, प्लावक और आप्यायक शक्ति वाला जलतत्त्व है। इस जलतत्त्व को धारण करने वाला, गन्ध गुण से सम्पन्न, पाच्य स्वभाव वाला पृथिवी तत्त्व है। ये आकाश आदि पाँच तत्त्व महाभूत कहलाते हैं।

ऊपर प्रदर्शित इन छत्तीस तत्त्वों में शिवतत्त्व को छोड़कर बाकी के शक्ति से लेकर पृथिवी पर्यन्त पैंतीस तत्त्व चित् एवं अचित् उभयविध शक्तियों से संपन्न हैं। जैसा कि कहा गया है — ''शक्ति और शक्तिमान् के रूप में द्विविध पदार्थ माने जाते हैं। शक्ति शब्द से इस समस्त जगत् का और शक्तिमान् शब्द से महेश्वर का बोध होता है। इनमें शक्ति की शक्तिमान् के स्वरूप से कभी भिन्नता नहीं मानी जाती। इनका नित्य तादात्म्य संबन्ध उसी तरह का है, जैसा अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति का। यतः शक्ति और शक्तिमान् का

सर्वदा स्थितः। अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्तिः परात्मनः। न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते।।'' इति। वायुसहितायां च — ''शक्त्यादि च पृथिव्यन्तं शिवतत्त्वसमुद्भवम्। तेनैकेन तु तद्व्याप्तं मृदा कुम्भादिकं यथा।। परा च विविधा शक्तिः प्रबोधानन्दरूपिणी। एकानेकस्वरूपेण भाति भानोरिव प्रभा।।'' इति, ''परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'', ''एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः'', ''य इमान् लोकानीशत ईशनीभिः'' इत्यादयश्च परब्रह्मणः स्वाभाविकानन्तजगज्जननशासनपालनशक्तिविशिष्टत्वं श्रुतयो वदन्ति।

किं बहुना, श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रामाण्यात् सकलचिदचित्प्रपञ्चमहाविभूतिरूपा महासंविदानन्दसत्ता देशकालादिपरिच्छेदशून्या स्वाभाविकी पराशक्तिः परब्रह्मणो भगवतः शिवस्य स्वरूपं गुणश्च भवति। तद्व्यतिरेकेण परब्रह्मणः सर्वज्ञत्व-

---

सदा अभेद माना जाता है, अतः इनका परस्पर धर्म-धर्मीभाव मान्य होने से यह परा शक्ति परमात्मा से सभी प्रकार से अभिन्न है। अग्नि की दाहिका शक्ति कभी भी उससे भिन्न रूप में भासित नहीं होती।।'' वायुसंहिता में भी कहा गया है — ''शक्ति से लेकर पृथिवी पर्यन्त सभी पैंतीस तत्त्व शिवतत्त्व से समुत्पन्न हैं। उस एक शिवतत्त्व से ही इन सबकी अभिव्यक्ति होती है, जैसे मिट्टी से घट, शराव आदि की। भगवान् की परा शक्ति नाना रूप धारण कर प्रबोध (ज्ञान) और आनन्द देती रहती है। एक ही परा शक्ति उसी तरह से अनेक रूपों में भासित होती रहती है, जैसे सूर्य की प्रभा''। विविध श्रुतियाँ भी इसमें प्रमाण हैं — ''इस परमात्मा की स्वाभाविक परा शक्ति ज्ञान, बल और क्रिया शक्ति के रूप में नाना प्रकार से भासित होती रहती है'', ''भगवान् रुद्र अकेले ही हैं, उनसे भिन्न किसी दूसरे की कोई स्थिति नहीं है'', ''यह परमात्मा अपनी ऐश्वर्यमय शक्तियों की सहायता से सभी लोकों पर शासन करता है''। इस तरह से ये सभी श्रुतियाँ परब्रह्म की इच्छा के अनुसार जगत् की सृष्टि, शासन और पालन करने में समर्थ अनन्त शक्तियों का वर्णन करती हैं।

अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। श्रुति-स्मृति-पुराण आदि के प्रमाण से समस्त जड़-चेतन जगत् को अपनी महाविभूति के रूप में प्रस्तुत करने वाली महासंवित् ही आनन्द और सत्ता के रूप में सर्वत्र व्याप्त होकर

सर्वशक्तिमत्त्व-सर्वकारणत्व-सर्वनियन्तृत्व-सर्वोपास्यत्व-सर्वानुग्राहकत्व-सर्व-पुरुषार्थहेतुत्व-सर्वगतत्वादिकं न सम्भवति। किञ्च, भवशिवशर्वरुद्रादिपरमाष्टनामाभिधेयत्वं च न सम्भवति। अतः सर्वचिदचित्प्रपञ्चरूपशक्तिविशिष्टब्रह्मैव सर्वशब्द-वाच्यम्। यथा नीलशब्दो न केवलं स्वस्यैव वाचकः, किन्तु स्वविशिष्टोत्पलस्यापि; तथा सर्वचिदचित्प्रपञ्चरूपशक्तिशब्दोऽपि ब्रह्मणः। तस्मात् "सर्वो वै रुद्रः", "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिश्रुतिभिः सर्वचिदचित्प्रपञ्चात्मकशक्तिपदवाच्यं ब्रह्माऽभिधीयते, धर्मधर्मिणोरभेदात्। एवं निर्णीतदिशा चिदचित्प्रपञ्चात्मकशक्ति-विशिष्टशिव एव विश्वस्यात्मा, न त्वन्यः कश्चित्, प्रकाशस्य देशकालादिभिर्भेदा-योगात्, जडस्य तु ग्राहकत्वानुपपत्तेः।

---

भी देश और काल की परिधि से बाहर रहती हुई परब्रह्म की यह स्वाभाविक परा शक्ति भगवान् शिव के स्वरूप और गुण के रूप में विद्यमान है। उस परा शक्ति के बिना परब्रह्म में सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व, सर्वकारणत्व, सर्वनियन्तृत्व, सर्वोपास्यत्व, सर्वानुग्राहकत्व, सर्वपुरुषार्थहेतुत्व, सर्वगतत्व आदि गुणों की स्थिति ही नहीं बनेगी और भव, शिव, शर्व, रुद्र आदि श्रेष्ठ आठ नामों से भी ये संबोधित नहीं हो सकेंगे। इसीलिये समस्त जड़ और चेतन जगत्-रूप शक्ति से विशिष्ट परब्रह्म ही **सर्व** शब्द के वाच्य हैं। जैसे नील पद से केवल नील वर्ण का ही बोध नहीं होता, किन्तु नीलगुणविशिष्ट नीलकमल का भी बोध होता है, उसी तरह से समस्त जड़ और चेतन जगत् को अपने भीतर समेटे हुए यह शक्ति शब्द ब्रह्म का भी बोधक है। इसीलिये "सब कुछ रुद्रमय है", "यह सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है" इस तरह की श्रुतियाँ समस्त जड़-चेतनात्मक प्रपंच-स्वरूप का बोध कराने वाला शक्तिपद ब्रह्म का भी बोध कराता है, क्योंकि धर्म और धर्मी में भेद नहीं माना जाता। इस प्रकार यहाँ चित् और अचित् जगत्-प्रपंच को अपने में समेट कर विद्यमान शक्ति से विशिष्ट शिव ही इस विश्व की आत्मा है, इससे भिन्न आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, यह स्पष्ट हो जाता है। शिव की प्रकाशात्मकता के कारण ही देश और काल के भेद से इसमें भेद नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रकाश के बिना देश और काल की प्रतीति नहीं होगी और जड़ पदार्थ में किसी को जानने की सामर्थ्य ही नहीं है।

यदा चिदात्मा परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यादभेदव्याप्तिं निमज्य भेदव्याप्तिमवलम्बते, तदा तदीया इच्छादिशक्तयोऽसङ्कुचिता अपि सङ्कोचवत्यो भवन्ति। तदानीमेव चायं मलावृतः संसारी भवति। तथा हि — अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपा इच्छाशक्तिः सङ्कुचिता सती अपूर्णम्मन्यतारूपमाणवमलम्, ज्ञानशक्तिः(क्तेः) क्रमेण सङ्कोचाद् भेदे सर्वज्ञत्वस्य किञ्चिज्ज्ञत्वाप्तेरन्तःकरणबुद्धीन्द्रियतापत्तिपूर्वमत्यन्तसङ्कोचग्रहणेन भिन्नवेद्यप्रथारूपं मायीयं मलम्, क्रियाशक्तिः(क्तेः) क्रमेण भेदे सर्वकर्तृत्वस्य किञ्चित्कर्तृत्वाप्तेः कर्मेन्द्रियरूपसङ्कोचग्रहणपूर्वमत्यन्तं परिमिततां प्राप्ता(प्तं) शुभाशुभानुष्ठानमयं कार्ममलम्, तथा सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्व-पूर्णत्व-नित्यत्व-व्यापकत्वशक्तयः सङ्कोचं ग्र(गृ)ह्णाना यथाक्रमं कलाविद्या-राग-काल-नियतिरूपा भवन्ति। तथाविधश्च शक्तिदरिद्रोऽयं संसारीत्युच्यते, स्वशक्तिविकासे तु शिव एव। ततः शिवस्वरूपत्वात् संसारिणः पुरुषस्य

---

जब चित्स्वरूप परमेश्वर अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के आधार पर अपने आप अभेद-व्याप्ति को छोड़कर भेद दृष्टि का सहारा ले लेता है, तब उसकी इच्छा आदि शक्तियों में कोई संकोच न आने पर भी वे जैसे संकुचित होती जा रही हैं, इस तरह की प्रतीति होने लगती है। यही वह समय है, जब वह आत्मा मलों से आवृत होकर संसारी बन जाता है। इसका क्रम इस प्रकार है — इच्छाशक्ति की स्वतन्त्रता सदा अबाधित रहती है, किन्तु उसमें जब संकोच का आभास होने लगता है, तब वह संकुचित जीवात्मा स्वयं को अपूर्ण मानने लगता है। यही स्थिति **आणव मल** के नाम से जानी जाती है। इसी तरह ज्ञानशक्ति के संकोच के क्रम में भेद-ज्ञान के उभर आने से सर्वज्ञता का संकोच हो जाने पर त्रिविध अन्तःकरण और पंचविध ज्ञानेन्द्रियों के रूप में जीव में अल्पज्ञता प्रवेश कर जाती है। इसके कारण यह जो भेद-बुद्धि पैदा होती है, उसे ही **मायीय मल** कहते हैं। इसी पद्धति से क्रमशः क्रियाशक्ति में संकोच आने पर सर्वकर्तृत्व-शक्ति किंचित्कर्तृत्व-शक्ति के रूप में बदल जाती है। तब वह कर्मेन्द्रियों के रूप में संकुचित होकर अत्यन्त परिमित स्थिति में पहुँच जाती है। यही संकोच शुभ और अशुभ कर्मों में प्रवृत्त कराने के कारण **कार्म मल** कहलाता है। यही क्रम आगे भी चलता है। तब सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व नामक पाँच शक्तियाँ संकुचित हो जाती हैं और वे क्रमशः कला, विद्या, राग, काल और नियति

द्वेषाद्यविषयत्वात् शान्त एव शिवमुपासीतेति। न चोपासनामन्तरेण पुरुषः स्वस्वरूपगोपनारूपं मलत्रयं व्यपोहति, साधनाभावात्। एतमर्थं पौराणिकी भणितिरप्यभिव्यनक्ति—

विग्रहं देवदेवस्य जगदेतच्चराचरम्।
एतमर्थं न जानन्ति पशवः पाशगौरवात्॥

विद्येति चेतनां प्राहुस्तथाविद्यामचेतनाम्।
विद्याविद्यात्मकं सर्वं विश्वं विश्वगुरोर्विभोः॥

रूपमस्य न सन्देहो विश्वं तस्य वशो(शे) यतः।
सत्ये साधौ च सच्छब्दः सद्भिरेव प्रयुज्यते॥
विपरीते त्वसच्छब्दः कथ्यते वेदवादिभिः।
सच्चासच्च जगद्विश्वं शरीरं परमेष्ठिनः॥

वृक्षस्य मूलसेकेन शाखाः पुष्यन्ति वै यथा।
शिवस्य पूजया तद्वत् पुष्यत्यस्य वपुर्जगत्॥

---

का रूप धारण कर लेती हैं। इस प्रकार शक्तियों के संकोच के कारण तथा तीनों मलों से आवृत होने से यह संसारी जीव शक्तिदरिद्र हो जाता है। यही जीव जब अपनी शक्तियों के विकास के लिये उद्यम करता है, तो वह शिव बन जाता है। यह संसारी जीव जब शिव बन जाता है, तो उसमें द्वेष आदि दोषों की कोई स्थिति नहीं रह जाती। तब वह शान्त होकर शिव की उपासना करता है। उपासना के बिना पुरुष अपने स्वरूप को छिपा देने वाले त्रिविध मल का परिहार नहीं कर सकता, क्योंकि इसके सिवाय इनको हटाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। पुराण के ये वचन इसी विषय की पुष्टि करते हैं—

यह सारा चराचरात्मक जगत् देवाधिदेव महेश्वर का शरीर है। पाशों से बँधे हुए पशु इस बात को समझ नहीं पाते॥ विद्या ही चेतना कहलाती है और अविद्या अचेतना। विद्या और अविद्या से घिरा हुआ यह सारा विश्व सर्वव्यापक विश्वगुरु भगवान् का ही स्वरूप है। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिये, क्योंकि सारा विश्व इसीके वश में है॥ साधुजन सत् शब्द का प्रयोग सत्य और साधु के अर्थ में करते हैं। वेदों का संमान करने वाले असत् शब्द का प्रयोग विपरीत अर्थ में करते हैं। सत् हो या असत् — यह

आत्मा तस्याष्टमी मूर्तिः शिवस्य परमात्मनः।
व्यापिकेतरमूर्तीनां विश्वं तस्माच्छिवात्मकम् ।।
देहिनो यस्य कस्याऽपि निग्रहः क्रियते यदि।
अनिष्टमष्टमूर्तेः सन्नात्र कार्या विचारणा ।।
सर्वोपकारकरणं सर्वानुग्रहणं तथा।
सर्वाभयप्रदानं च शिवस्याराधनं विदुः ।। इति।

अतः सर्वाकारत्वात् शिवस्य "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति, "शान्त उपासीत" इति श्रुत्यनुरोधेन विष्ण्वादिसर्वजीवानामनुग्रहार्थमुपास्यत्वमिति सर्वं समञ्जसमेव।

ननु "सहस्रशीर्षं देवम्" इत्यारभ्य सहस्रशीर्षत्वादिविधेयत्वेन नारायणस्य मूर्त्यात्मन एवोद्यक्ष्य(वाध्यक्ष)त्वेनाभ्यासात्, "समुद्रेऽन्तं विश्वशम्भुवम्" इति

---

सारा विश्व उस परमेश्वर का ही शरीर है।। वृक्ष की जड़ को सींचने से जैसे उसकी शाखा-प्रशाखा पुष्ट हो जाती हैं, उसी तरह से शिव की पूजा से उसका यह विश्वात्मक शरीर भी पुष्ट होता है।। भगवान् शिव की आठवीं मूर्ति आत्मा के नाम से प्रसिद्ध है, यह अन्य सभी मूतियों में व्याप्त है। इसीलिये यह सारा विश्व शिवात्मक माना जाता है।। इस स्थिति में यदि हम जिस किसी भी देही का अनिष्ट करना चाहते हैं, तो हम ऐसा करते हुए अष्टमूर्ति शिव के प्रति ही अपराध कर रहे हैं, इस विषय में कोई सन्देह नहीं करना चाहिये।। **इसीलिये सभी का उपकार करना, सब पर दयादृष्टि रखना, सबको अभय प्रदान करना – शिव की यही सर्वश्रेष्ठ आराधना है।।**

पुराण के इन वचनों के प्रमाण से शिव की सर्वाकारता स्पष्ट होती है। "यह सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है" यह श्रुति भी इसी अर्थ का प्रतिपादन करती है। अतः संसारी जीव के लिये यह आवश्यक है कि "शान्त स्थिति में पहुँचा हुआ व्यक्ति ईश्वर की उपासना करे" इस श्रुति के अनुसार विष्णु आदि समस्त जीवों पर अनुग्रह करने की दृष्टि से भगवान् शिव की उपासना करनी चाहिये। इससे भगवान् शिव की सर्वोत्कृष्टता स्पष्ट हो जाती है।

यहाँ शंका उठती है कि "सहस्रशीर्षं देवम्" इत्यादि प्रकरण में सहस्रशीर्षत्व आदि विशेषणों से विशिष्ट मूर्त्यात्मक (अवतार-स्वरूप)

समुद्रशायित्वादितल्लिङ्गाच्च, तत्पर्यायवाचकाच्युतहरिशब्दादिप्रयोगाच्च नारायण एव मूर्त्यात्मा विश्वपतित्वादिलिङ्गेन सिद्ध उपास्य इति चेदुच्यते— उपास्यो भगवान् शिव एव, विश्वपतित्वादीनां परमेश्वरधर्माणां तदर्थान्तरे नारायणेऽनुपपत्तेः, "पशूनां पतये", "वृक्षाणां पतये", "जगतां पतये" इत्यादिना परमेश्वर एव निखिलभुवनाधिपत्यमभ्यस्यते, "एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमान् लोकानीशत ईशनीभिः" इत्यादिश्रुत्या रुद्रव्यतिरिक्तस्य जगदीश्वरत्वं निषिध्यते, "विश्वाधिको रुद्रः" इति विश्वाधिकत्वं च तस्यैव श्रूयते। अतो विश्वपतित्वादिलक्षणो नारायणात्मा परमेश्वर इति समीचीनम्।

ननु "नारायणात्मा" इति नारायणान्तर्यामी परमेश्वर इति यदुक्तम्, तदयुक्तम्; "नारायणः परंब्रह्म" इति नारायणस्य परब्रह्मभावमुक्त्वा "पद्मकोश-

---

नारायण का ही प्रधान रूप से बार-बार वर्णन मिलता है। इसी प्रकरण के "समुद्रेऽन्तं विश्वशम्भुवम्" इस वाक्य में नारायण की समुद्र में शयन की चर्चा है और फिर आगे नारायण के पर्यायवाचक अच्युत, हरि आदि शब्दों का भी प्रयोग देखने को मिलता है, अतः विश्वपतित्व आदि शब्दों से मूर्त्यात्मा नारायण का ही बोध होता है, तो इस प्रकरण में नारायण का ही उपास्य के रूप में वर्णन होना चाहिये? इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जाता है — उपास्य के रूप में यहाँ भगवान् शिव ही वर्णित हैं, क्योंकि विश्वपतित्व आदि धर्मों की स्थिति केवल परमेश्वर शिव में ही रहती है, नारायण-रूप अर्थान्तर में नहीं। पशुओं के, वृक्षों के और सारे जगत् के पति के रूप में बार-बार परमेश्वर का ही समस्त भुवनों के अधिपति के रूप में वर्णन मिलता है। "इस जगत् में एकमात्र रुद्र ही विद्यमान है, दूसरा कोई नहीं। यह रुद्र ही अपनी ऐश्वर्यात्मक शक्तियों से इन समस्त लोकों पर शासन करता है" इस तरह की श्रुतियाँ रुद्र से भिन्न अन्य किसी भी देवता की जगत् की ईश्वरता का निषेध करती हैं, "यह रुद्र विश्व से अधिक है" यह श्रुति रुद्र की स्थिति को विश्व के ऊपर मानती है, अतः विश्वपति आदि विशेषणों से विभूषित नारायण शब्द से परमेश्वर शिव का ग्रहण किया जाय, यही उचित है।

यहाँ पुनः शंका उठती है कि "नारायणात्मा" शब्द का नारायण का आत्मा, नारायण का अन्तर्यामी, नारायण के हृदय-देश में निवास करने वाला परमेश्वर शिव, यह जो अर्थ किया जाता है, वह ठीक नहीं है। "नारायणः

प्रतीकाशम्'' इत्यादिना पुरुषस्य हृदयपुण्डरीकस्थानमुक्त्वा ''तस्य मध्ये वह्निशिखा'' इत्यादिना जीवस्वरूपमुक्त्वा ''तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः'' इति परमात्मत्वेन जीवान्तर्यामित्वेन तस्योपास्यत्वमवगम्यते। ''स ब्रह्मा स शिवः'' इत्यादिना तद्विभूतित्वं ब्रह्मशिवादीनामुच्यते। अतो नारायण एव विश्वपतिः परब्रह्मभूतो जीवान्तर्यामित्वेनोपास्य इति चेन्नैवम्;

तत्र ''पद्मकोशप्रतीकाशम्'' इति प्रकृतस्य नारायणस्य चक्रस्थानमुच्यते। ''तस्य मध्ये वह्निशिखा'' इत्याादिना तच्चक्रमध्यस्था वह्निशिखोच्यते। ''तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः'' इत्यादिना तच्छिखामध्यवर्तिभावलिङ्गरूपः परमात्मा तदन्तर्वर्तितया ध्येयत्वेनोच्यते। ततो ध्यातृत्वेन नारायणस्य ध्येयत्वेन परमेश्वरस्य बोधो भवति। अतो नारायणादन्य एवोपास्यः परमात्मा। ''स ब्रह्मा

---

परंब्रह्म'' इस वाक्य में नारायण को ही परब्रह्म बताया गया है और आगे के ''पद्मकोशप्रतीकाशम्'' इस वाक्य में नारायण-पुरुष का हृदय-पुण्डरीक में स्थान बताकर ''तस्य मध्ये वह्निशिखा'' इस वाक्य से जीव के स्वरूप को बताकर आगे उस शिखा के बीच में परमात्मा की उपास्यता के विधान की प्रतीति होती है। आगे का ''स ब्रह्मा स शिवः'' यह वचन ब्रह्मा और शिव आदि को उसी नारायण की विभूतियाँ बताता है। इस तरह से नारायण के ही विश्वपति, परब्रह्म स्वरूप और जीव का अन्तर्यामी होने से उसे ही उपास्य स्वरूप मानना चाहिए।

यह शंका भी उचित नहीं है। इसका समाधान यह है — यहाँ ''पद्मकोशप्रतीकाशम्'' इस वाक्य में प्रकृत नारायण के चक्र-स्थान का उल्लेख है। ''तस्य मध्ये वह्निशिखा'' इत्यादि वाक्य में उस चक्र के मध्य में स्थित वह्निशिखा की सूचना है और ''तस्याः शिखायाः'' इत्यादि वाक्य में उस वह्निशिखा के मध्य में स्थित भावलिंगस्वरूप परमात्मा की अन्तर्यामी के रूप में उपासना करने का विधान है। इस तरह से यहाँ ध्याता के रूप में नारायण का और ध्येय के रूप में परमात्मा शिव का बोध होता है। अतः स्पष्ट है कि नारायण से भिन्न परमात्मा शिव ही यहाँ उपास्य के रूप में वर्णित है। ''स ब्रह्मा स शिवः'' इत्यादि वाक्य में ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, आदि इस प्रपंच की विशिष्ट विभूतियों को उस परमात्मा का ही स्वरूप माना गया है। यहाँ विष्णु का ग्रहण न होने पर भी कैवल्योपनिषत् में तो इस प्रसंग में विष्णु का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहाँ ''हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धम्'' इत्यादि

स शिवः'' इत्यादिना ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रादिप्रपञ्चविशिष्टविभूतित्वं परमेश्वरस्यैवोपदिश्यते। अत्र विष्णोरग्रहणमपि कैवल्योपनिषदि श्रूयते । तथा हि—''हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धम्'' इत्यादिना हृदयपुण्डरीकं प्रस्तुत्य ''उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्'' इत्यारभ्य ''स कालोऽग्निः'' इत्यन्तम्।

अपि च— ''यो वै रुद्रः स भगवान्'' इत्यारभ्य ''यश्च विष्णुर्यश्च महेश्वरः'' इत्यन्तमथर्वश्रुतावपि भगवतः परमेश्वरस्य उपास्यत्वं नारायणस्योपासकत्वं सिद्धमित्यविरोधः। [किञ्च]''नारायणपरं ब्रह्म'' इति श्रुतिर्नारायणात् परमिति ब्रह्म प्रतिपादयति। अतो नारायणादन्यदेव परंब्रह्मोपास्यम्, तदेव हिं— ''ऋतं सत्यं परंब्रह्म पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपाय'' इत्युच्यते। अत्र खलूपक्रमादिभिर्लिङ्गैर्विरूपाक्षं ब्रह्म सर्वोत्कृष्टमुपास्यमिति युक्तमेव।

तथा हि उपक्रमे— ''अणोरणीयान्'' इत्यादिना ''महिमानमीशम्'' इत्यन्तेन सकलजन्तुहृदयगुहावर्तित्वेन स्वप्रसादातिशयवीतशोकपुरुषदर्शनविषयत्वेन च

---

वाक्य में हृदय-पुण्डरीक की निष्कलंकता और विशुद्धता को बताकर ''उमासहायं परमेश्वरं प्रभुम्'' यहाँ उमासहित प्रभु परमेश्वर शिव का वर्णन करते हुए ''स कालोऽग्निः'' इत्यादि अग्रिम वाक्य में काल, अग्नि आदि को शिव का ही स्वरूप बताया गया है। स्पष्ट ही यहाँ अन्य देवताओं के साथ विष्णु भी गृहीत हैं।

इस सन्दर्भ में अन्य प्रमाण भी देखिये — ''यो वै रुद्रः स भगवान्'' यहाँ से आरंभ कर ''यश्च विष्णुर्यश्च महेश्वरः'' इस आथर्वण श्रुति में भगवान् परमेश्वर की उपास्यता और नारायण की उपासकता का स्पष्ट प्रतिपादन मिलता है। पूर्वोक्त ''नारायणपरं ब्रह्म'' इस श्रुति में 'नारायणात् परम्' इस पदच्छेद के आधार पर नारायण से भिन्न की परब्रह्मता प्रतिपादित होती है। स्पष्ट है कि नारायण से भिन्न परमेश्वर शिव ही परब्रह्म के रूप में उपास्य हैं। उन्हीं का — ''ऋत, सत्य, कृष्णपिंगल पुरुष, परब्रह्म, ऊर्ध्वरेता, विरूपाक्ष, विश्वरूप'' जैसे विशेषणों से वर्णन श्रुतियों में हुआ है। यहाँ मीमांसाशास्त्र के उपक्रम-उपसंहार आदि षड्विध लिंगों के आधार पर विरूपाक्ष ब्रह्म की सर्वोत्कृष्ट उपास्यता स्पष्ट होती है और यह उचित भी है।

इस सन्दर्भ को यहाँ इस प्रकार स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है — उपक्रम में ''अणोरणीयान्'' से लेकर ''महिमानमीशम्'' पर्यन्त श्रुतिवाक्य

महिमातिशयवानीशः। पुनः "सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्याम्" इत्यादिना स एव परमशक्तिमान् प्राणादिजगदुपादानत्वेन निरूपितः। ततश्च "यो देवानाम्" इत्यारभ्य "पश्यत जायमानम्" इत्यन्तेन विश्वाधिकत्वसर्वज्ञत्वसकलकार्य-प्रथमहिरण्यगर्भ-जनकत्वादिना निमित्तभूतः परामृष्टः। स एव ततः "परेण नाकम्" इति पराकाशगुहावर्ती त्यक्तफलकर्मानुष्ठायिनां वेदान्ततात्पर्यवेदिनां यतीनां शिवयोगिनां "परामृतात् परिमुच्यन्ति" इति परामृतरूपतया प्राप्यत्वेन वर्णितः। कस्तत्र प्राप्तावुपाय इति प्राप्ते "दहरं विपाप्म" इति दहरोपासनमारब्धम्। तत्र "तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम्" इति दहरपुण्डरीके यद्वस्तु तदुपास्यमिति सामान्येनोक्तम्। तत् किमित्याकाङ्क्षायां "यः परः स महेश्वरः" इति महेश्वराख्यं तदुपवर्णितम्। तत्किमित्याकाङ्क्षायाम् ऋतं सत्यं परंब्रह्म पुरुषं विरूपाक्षत्वादिलक्षण-

---

सकल प्राणियों की हृदय-गुहा में निवास करने वाले एवं अपने अतिशय प्रसाद से राग-द्वेष-शोक आदि दोषों से मुक्त पुरुषों को दर्शन देने वाले ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट महिमा को बताता है। पुनः आगे का "सप्त प्राणाः" इत्यादि श्रुतिवाक्य परम शक्तिमान् ईश्वर को प्राण आदि समस्त जगत् का उपादान कारण बताता है। इसके बाद "यो देवानाम्" यहाँ से प्रारंभ कर "परतो जायमानम्" पर्यन्त वाक्य विश्वाधिकत्व, सर्वज्ञत्व, हिरण्यगर्भजनकत्व जैसे विशेषणों के माध्यम से ईश्वर की निमित्तकारणता प्रतिपादित है। फिर "परेण नाकम्" इस वाक्य के द्वारा वही ईश्वर पराकाशरूपी गुहा में निवास करता है, अतः मुक्ति-फल को दिलाने वाले पति-कर्मों का अनुष्ठान करने वाले, वेदान्त के तात्पर्य को समझने वाले यतियों, शिवयोगियों के द्वारा "परामृतात् परिमुच्यन्ति" इस श्रुति के प्रमाण से ये ही ईश्वर परामृत स्वरूप होने से प्राप्य हैं, यह वर्णित है। इसकी प्राप्ति का उपाय क्या है? यह जानने की इच्छा होने पर "दहरं विपाप्म" यह श्रुति दहरोपासना को इसका उपाय बताती है और आगे "तस्मिन् यदन्तः" यह श्रुति बताती है कि दहर-पुण्डरीक में जो वस्तु विद्यमान है, उसकी उपासना करना ही इसका सामान्य रूप निर्दिष्ट है। विशेष जिज्ञासा होने पर "यः परः स महेश्वरः" इस वाक्य में महेश्वर की ही परमता प्रतिपादित है। यह परम महेश्वर कैसा है? इस तरह की जिज्ञासा के पुनः उठने पर ऋत एवं सत्य स्वरूप परब्रह्म ही परम पुरुष है। कृष्णपिंगल विरूपाक्ष के रूप में यहाँ परमेश्वर शिव का स्वरूप ही उपसंहार

रूपमित्युपसंहृतम्। तत्रावान्तरवाक्यसिद्धो नारायणः पूर्वोक्तन्यायेनोपासकत्वेनान्वेतीति विभावनीयम्।

अत्र सर्वेषामुपासनेऽधिकारस्य सद्भावेऽपि नारायणग्रहणमस्याधिक्यार्थम्। अपि च, "रौद्रं समभ्यर्च्य हि लिङ्गमादौ शिलामयं चारु हरिस्तु भक्त्या। सुदुर्लभं वैष्णवमाद्यमग्र्यमवाप्तवानेष परं पदं यत्॥" इति ब्रह्मवैवर्तवचनात्, "रौद्रं लिङ्गं महाविष्णुर्भक्त्या शुद्धं शिलामयम्। चारुचित्रं समभ्यर्च्य लब्धवान् परमं पदम्॥" इत्यादित्यपुराणवचनात्, "इन्द्रनीलमयं लिङ्गं विष्णुः पूजयते सदा। विष्णुत्वं प्राप्तवांस्तेन स भुङ्क्ते शं सनातनम्॥" इति शिवरहस्यवचनात्, "ब्रह्मणः सृष्टिकर्तृत्वं विष्णोर्दानवमर्दनम्। स्वर्गाधिपत्यमिन्द्रस्य शिवपूजाविधेः फलम्॥" इत्यनुशासनपर्वणि व्यासवचनात्, "यज्ञकर्ता च देवेन्द्रः सृष्टिकर्ता

---

में वर्णित है। इस प्रकार उपक्रम से लेकर उपसंहार पर्यन्त षड्विध लिंगों के द्वारा प्रतिपादित शिव की ही उपास्यता यहाँ वर्णित है। इस प्रकरण के एक अवान्तर वाक्य में नारायण की जो चर्चा मिलती है, उपासक के रूप में ही उनका समावेश होगा, यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये।

यद्यपि इस उपासना में सभी का समान अधिकार है, तो भी नारायण का ग्रहण इनकी महिमा का द्योतक है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के इस वचन से इनकी महिमा को जाना जा सकता है — "भगवान् हरि ने पुरा काल में भक्तिपूर्वक भगवान् रुद्र के सुन्दर, शिलामय लिंग की पूजा करके उस उत्कृष्ट, सुदुर्लभ, आद्य, अग्र्य (श्रेष्ठ) वैष्णव परमपद को प्राप्त किया था"। आदित्यपुराण में भी इसकी चर्चा है — "महाविष्णु ने भक्तिपूर्वक शुद्ध, शिलामय, मनोरम, चारुचित्र रुद्रलिंग की समाराधना कर परमपद को प्राप्त किया"। शिवरहस्य में यह विषय इस प्रकार वर्णित है — इन्द्र-नीलमणि से निर्मित शिवलिंग की विष्णु सदा पूजा करते हैं। इससे उनको वैष्णव पद की प्राप्ति हुई। वहाँ रहते हुए वे सदा सनातन सुख का उपभोग करते रहते हैं"। महाभारत के अनुशासनपर्व में महर्षि वेदव्यास इनकी महिमा का वर्णन इस तरह से करते हैं — "ब्रह्मा सृष्टि के कर्ता हैं, विष्णु दानवों का मर्दन करते हैं, इन्द्र स्वर्ग के अधिपति हैं। यह सब शिवपूजा के अनुष्ठान का ही फल है"। कूर्मपुराण में स्वयं विष्णु भी शिव की महिमा का वर्णन इस तरह से करते हैं — "देवेन्द्र यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वाक्पति ब्रह्मा सृष्टि के कर्ता हैं, मैं स्वयं (विष्णु)

च वाक्पतिः। अहमेव जगत्कर्ता मम कर्ता महेश्वरः॥'' इति कूर्मपुराणे विष्णुवचनाच्च विष्ण्वादिसर्वदेवानां भगवाल्लिङ्गमूर्तिः शिव एवोपास्य इति सर्वं सुसङ्गतमेव।

अतः प्राणलिङ्गानुसन्धानरूपदहरोपासनस्यैव सर्वोत्कृष्टत्वात् तेनैव पुरुषस्य त्रिमलविमोचनस्य सम्भवान्मुमुक्षुणा तदेवोपास्यम्। तस्येष्टलिङ्गानुसन्धानं विना दुःसाध्यत्वात् प्रथमं सद्गुरोरनुग्रहप्राप्तसदीक्षालिङ्गधारणं प्राप्तव्यम्।

तदुक्तं स्क[ा]न्दे—''लिङ्गधारणमाख्यातं द्विधा सर्वार्थसाधकैः। बाह्यमाभ्यन्तरं चेति मुनिभिर्मोक्षकाङ्क्षिभिः॥ आधारे हृदये वापि भ्रूमध्ये वा निरन्तरम्। ज्योतिर्लिङ्गानुसन्धानं तदेवान्तरमुच्यते॥ अन्तर्धारयितुं लिङ्गमशक्तः शक्त एव वा। बाह्यं तु धारयेल्लिङ्गं तद्रूपमिति निश्चयात्॥ ब्रह्मविष्ण्वादयो देवा मुनयो

---

जगत् का कर्ता हूँ और मेरे कर्ता महेश्वर शिव हैं''। इन सभी वचनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् लिंगमूर्ति शिव ही सभी देवों के उपास्य हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि भगवान् शिव के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है, वह सब सुसंगत है।

स्पष्ट है कि प्राणलिंग के अनुसन्धान के रूप में व्याख्यात दहरोपासना ही सर्वोत्कृष्ट उपासना है और इसीकी सहायता से पुरुष के स्वरूप को तिरोहित करने वाले आणव आदि तीनों मलों का परिहार हो सकता है, अतः मुमुक्षु को उस प्राणलिंग की ही उपासना करनी चाहिये। इस प्राणलिंग की उपासना में मुमुक्षु तब तक समर्थ नहीं हो सकता, जब तक वह इष्टलिंग के अनुसन्धान में समर्थ न हो जाय। अतः सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह सद्गुरु के अनुग्रह से दीक्षा के साथ सविधि इष्टलिंग को प्राप्त करे।

स्कन्दपुराण में इसकी चर्चा है — ''सभी प्रकार की कामनाओं की पूर्ति चाहने वाले साधकों के लिये द्विविध लिंगधारण का विधान है। मोक्ष की आकांक्षा करने वाले मुनिजन बाह्य और आभ्यन्तर के रूप में इन दो भेदों को बताते हैं। आधार, हृदय और भ्रूमध्य में निरन्तर ज्योतिर्लिंग का अनुसन्धान आन्तर उपासना कहलाती है। आन्तर लिंग की उपासना में असमर्थ अथवा समर्थ व्यक्ति को भी बाह्य इष्टलिंग को अवश्य धारण करना चाहिये, क्योंकि वह भी ज्योतिःस्वरूप ही है। ब्रह्मा, विष्णु आदि देवगण और गौतम आदि मुनिगण इष्टलिंग को सदा धारण करते हैं, विशेष रूप से अपने

गौतमादयः। धारयन्ति सदा लिङ्गमुत्तमाङ्गे विशेषतः।।'' इति, तथा लिङ्गपुराणे— ''अक्षपादादयः सर्वे शक्तयः (मुनयः) परया मुदा। धारयन्त्यलिकाग्रेषु शिवलिङ्ग-महर्निशम्।।'' इत्यादिवचनप्रामाण्याल्लिङ्गधारणरूपधर्मस्य दहरोपासनान्तर्भूतत्वात् तदेवानुष्ठेयम्।

ननु भवदुदाहृतपुराणोक्तलिङ्गधारणस्य वेदाविहितत्वात्, तत्कथं तदनुष्ठाने पुराणवचनानां प्रामाण्यम्? इति चेदुच्यते— ''यश्चतुर्वेदविद् विप्रः पुराणं वेत्ति नार्थतः। तं दृष्ट्वा भयमाप्नोति वेदो मां प्रतरेदिति।।'' इति सूतसंहितावचनात्, ''इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रतरेदिति।।'' इति महाभारते व्यासवचनाच्चोपबृंहणवचनानुरोधेनैव श्रुतीनामर्थस्य वक्तुं शक्यत्वात्। तथा हि तैत्तिरीयोपनिषदि— ''ॐ नमो ब्रह्मणे धारणं मे अस्त्वनिराकरणं धारयिता भूयासं कर्णयोः श्रुतं मा चोढ्वं ममामुष्य ॐ'' इति।

---

सिर पर''। लिंगपुराण में भी बताया गया है — ''अक्षपाद (गौतम) आदि सभी मुनिगण परम प्रसन्नता के साथ अपने शिरोभाग पर रात-दिन निरन्तर शिवलिंग को धारण करते हैं''। इस तरह के अनेक वचनों के प्रमाण से लिंगधारण रूप धर्म का अन्तर्भाव दहरोपासना में किया जाता है, अतः इसी उपासना को स्वीकार करना चाहिये।

यहाँ शंका उठती है कि आपके द्वारा पुराणों के प्रमाण से जिस इष्टलिंगधारण को मान्यता दी गई है, उसका वेदों में विधान नहीं मिलता। इसके अभाव में पुराणों का प्रामाण्य कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान यह है — ''चारों वेदों का ज्ञाता जो ब्राह्मण पुराणों के अर्थ का अनुगमन नहीं करता, उसको देखकर वेद भय खाने लगता है कि कहीं यह मेरा गलत अर्थ न करने लग जाय''। यह सूतसंहिता का वचन है। इसी तरह महाभारत में भगवान् वेदव्यास भी इसी विषय का विस्तार करते हुए कहते हैं — ''इतिहास और पुराण की सहायता से वेद के अर्थ का उपबृंहण (विस्तार) करना चाहिये। अल्पश्रुत (अल्पज्ञ) व्यक्ति से वेद भी भय खाने लगता है कि कहीं यह मेरा उलटा-सीधा अर्थ न करने लग जाय''। इन वचनों से स्पष्ट है कि इतिहास-पुराण की सहायता से ही वेदों का अर्थ करना चाहिये। तैत्तिरीयोपनिषद् में भी यही बात कही गई है। ऊपर पूरी श्रुति उद्धृत की गई है। उसका अर्थ इस प्रकार है—

अस्यार्थः— "ब्रह्मणस्पतिरीशोऽयं ब्रह्म तल्लिङ्गमुच्यते" इति स्कान्दवचनेन, "अलिङ्गमेकमव्यक्तं लिङ्गं ब्रह्मेति निश्चितम्" इतीश्वरगीतावचनेन, "ब्रह्मणे लिङ्गमूर्तये" इति लिङ्गपुराणवचनेन च ब्रह्मणे लिङ्गमूर्तये नम इति पुरुषैर्नमस्कार-भक्तिपुरःसरं लिङ्गधारणं याचितम्। धारणं तद्ब्रह्मरूपशिवलिङ्गधारणं मे ममास्तु भूयात्। अनिराकरणम् "उत्तमाङ्गे गले वापि कक्षे वक्षस्थलेऽपि वा। तथा हस्ततले वापि प्राणलिङ्गं धरेत् सुधीः॥ गच्छंस्तिष्ठन् स्वपञ्जाग्रन्नु(दु)न्मिषन्निमिषन्नपि। शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि लिङ्गं सर्वत्र धारयेत्॥" इति कामिकागमवचनप्रामाण्यात् पञ्चसु स्थानेषु कदाचिदप्यजहनं मास्तु मा भूदित्यर्थः। ॐ ॐकारपदवाच्यं लिङ्गम्। "तस्य वाचकः प्रणवः" इति पातञ्जलसूत्रप्रामाण्याद् लिङ्गरूपिणः परमेश्वरस्य ॐकारपदवाच्यत्वमव्याहतमेव। तद्धारयिता भूयासमिति श्रुतिः स्वीयं तात्पर्यं मुमुक्षुणा लिङ्गधारणमान्यतामाह। कर्णयोः श्रुतं वेदशास्त्रपुराणेषु

---

स्कन्दपुराण में कहा गया है — "ब्रह्मणस्पति भगवान् शिव ही ब्रह्म हैं, इन्हींकी लिंग के रूप में अभिव्यक्ति होती है"। ईश्वरगीता भी कहती है — "निश्चय ही अलिंग, अव्यक्त एक ब्रह्म ही लिंग के रूप में प्रकट होता है"। लिंगपुराण में — "लिंगस्वरूप ब्रह्म को प्रणाम" किया गया है। इन सब वचनों के प्रमाण से यहाँ (उक्त श्रुति में) लिंगस्वरूप ब्रह्म को प्रणाम निवेदन किया गया है — नमो ब्रह्मणे। अभिप्राय यह है कि इस श्रुति के द्वारा सभी पुरुष भक्तिभावपूर्वक इष्टलिंग के धारण की याचना करते हैं। धारणं मे अस्तु = उस ब्रह्मस्वरूप शिवलिंग का धारण मैं करता रहूँ। अनिराकरणम् = इससे मेरा कभी वियोग न हो। कामिकागम में बताया गया है — "उत्तमांग (सिर), कण्ठ, कक्ष (स्कन्ध), वक्षस्थल अथवा हस्ततल — इन पांच अंगों में से किसी एक अंग पर विद्वान् व्यक्ति को प्राणलिंग (इष्टलिंग) धारण करना चाहिये। चलते समय, ठहरते समय, सोते समय, जागते समय, श्वास-प्रश्वास लेते समय भी, भले ही वह पवित्र हो या अपवित्र — सभी स्थितियों में सदा प्राणलिंग का धारण आवश्यक है"। इस वचन के प्रमाण से पाँच में से किसी एक स्थान पर प्राणलिंग की स्थिति आवश्यक मानी गई है। अनिराकरण शब्द इसी स्थिति को दिखाता है कि इष्टलिंग से मेरा निराकरण कभी न हो। यह ब्रह्म ॐकार पदवाच्य लिंग ही है। पातंजलयोगसूत्र में प्रणव (ॐकार) को ईश्वर का वाचक माना गया है। तदनुसार लिंग-रूपी परमेश्वर

प्रसिद्धम्। अमुष्य मम सर्वदा जपतत्परस्य वाचिकमानसिकोपांशुकभेदैरूद्ध्वं वाह्यम्, अस्तु भूयात्, अच्च(त्र) प्रमादेन(दो) मा भूदित्यर्थः।

अत्रोपबृंहणवचनानि ब्रह्माण्डपुराणे—

नमस्ते ब्रह्मणे तुभ्यमाचार्याय नमो नमः।
तन्निराकरणं विश्वं जन्यत्वान्मृत्युनैव हि॥

अनिराकरणं ब्रह्म कारणत्वान्निरन्तरम्।
अनिराकरणं मेऽस्तु धारणं देशिकोत्तम॥

वेदशास्त्रपुराणेषु प्रसिद्धं कर्णयोः श्रुतम्।
अहं धारयिता देवं भूयासं सर्वकारणम्॥

ब्रह्मविष्ण्वादयो देवाः प्रसिद्धाश्च ततः श्रुताः।
ते निराकरणाः सर्वे मृत्युना सर्वशत्रुणा॥

---

की ॐकारपदवाच्यता बिना किसी बाधा के सिद्ध हो जाती है। "तद्धारयिता भूयासम्" इस श्रुतिवाक्य का तात्पर्य इसमें है कि मुमुक्षुजन लिंगधारण की मान्यता को मन से स्वीकार करें। "कर्णयोः श्रुतम्" का अर्थ है कि वेद, शास्त्र और पुराणों में यह विषय प्रसिद्ध है। इस ॐकार के वाचिक, मानसिक और उपांशु के भेद से त्रिविध जप में सदा तत्पर रहने वाले मुझसे भगवान् रुद्र कभी बाहर न हो, अर्थात् निरन्तर मेरे चित्त में विराजमान रहें, इस कार्य में मैं कभी प्रमाद में न पड़ूँ। उक्त श्रुति का यही अर्थ है।

ब्रह्माण्डपुराण में इस श्रुति के अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है — "मैं प्राणलिंगस्वरूप ब्रह्म को और अपने आचार्य (दीक्षागुरु) को बार-बार प्रणाम करता हूँ। दीक्षा के समय धारित इष्टलिंग भी एक विधि है, जन्य कार्य होने पर भी इसका वियोग इस शरीर की मृत्यु के बाद ही हो॥ ब्रह्म के स्वरूप में यह निरन्तर कारण के रूप में स्थित है, अतः इनका कभी निराकरण नहीं होता। हे देशिकोत्तम! ऐसा आशीर्वाद दें कि आपके द्वारा धारण कराये गये इस इष्टलिंग का जीवितावस्था में मेरे शरीर से कभी वियोग न हो॥ वेद, शास्त्र और पुराणों में यह प्रसिद्ध है कि मन्त्र का उपदेश कान से सुना जाता है। हे देव! समस्त जगत् के कारणभूत मन्त्र को मैं सदा धारण

मे निराकरणास्त्वेते नहि धार्याः कदाचन।
नाहं धारयिता देवान् भूयासं मज्जतः सुरान्॥
न शक्नुवन्ति मां तर्तुं मज्जन्तं मृत्युसागरे।
ऊद्ध्वं ममेदमोंलिङ्गं माच्चामुष्य समाश्रये॥ इति।

किञ्च, शङ्करसंहितायाम्—

ॐमिति ब्रह्म परमं लिङ्गाकारं महेश्वरम्।
सर्वावस्थासु सर्वेषु कालेषु निमिषार्धतः॥
अवियोगेन भुक्तिं च मुक्तिमिच्छन् द्विजोत्तमः।
धारयेत् पञ्चसु स्थानेष्वस्मिन् संलग्नमानसः॥
उपदिष्टं च गुरुणाऽऽकर्णितं दिव्यरूपभाक्।
वेदसिद्धं मन्त्रराजं जपेत् पञ्चाक्षरं सदा॥
अस्मिन्नर्थे धारयिता भूयासमिति हि श्रुतिः।
हस्तसिंहासने लिङ्गमप्रमादेन धारयेत्॥

---

किये रहूँ, इसके जप में सदा लगा रहूँ॥ ब्रह्मा, विष्णु आदि अनेक देवताओं की महिमा हम सुनते रहते हैं। प्राणी मात्र की शत्रु मृत्यु इन सबका निराकरण कर देती है॥ जिनकी सत्ता मृत्यु के कारण निराकृत हो जाती है, उनको कभी धारण नहीं किया जाता। स्वयं भवसागर में डूबने-उतराने वाले, स्वर्ग में रहने वाले देवताओं को मैं धारण नहीं करूंगा, इनकी उपासना नहीं करूँगा॥ मृत्यु-सागर में डूबने-उतराने वाले ये देवता मेरा उद्धार करने में असमर्थ हैं, अतः मैं ॐकारस्वरूप, ब्रह्मस्वरूप इष्टलिंग को ही धारण करता हूँ, इनसे भिन्न अन्य किसी का आश्रय नहीं लूँगा॥''

शंकरसंहिता में यह विषय इस प्रकार चर्चित है — ''ॐकार परमब्रह्म का वाचक है। यह ब्रह्म सनातन लिंगाकार को धारण करता है। सभी अवस्थाओं और सभी कालों में आधे क्षण के लिये भी इसका ध्यान अवश्य करना चाहिये॥ इष्टलिंग के वियोग के बिना भोग और मोक्ष को चाहने वाला द्विजोत्तम एकाग्रचित्त से पाँच स्थानों में से किसी एक स्थान पर इसे धारण करे॥ गुरु के द्वारा उपदिष्ट एवं कीर्तित दिव्य स्वरूप धारी वेदोक्त पंचाक्षर

प्रमादात् पतिते लिङ्गे सह प्राणान् परित्यजेत् ।।
पतिते प्राणलिङ्गे यः प्राणान् धत्ते नराधमः ।
स चण्डाल इति ज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः ।।
लिङ्गपातिनमाचारनिन्दकं न हृदि स्मरेत् ।
वीरशैवक्रमं प्रोक्तं प्रायश्चित्तादिवर्जितम् ।।
शुद्धशैवो विशेषेण मन्त्रतन्त्रप्रचारणात् ।
शुद्धो भवति लोपेषु प्रायश्चित्तविधानतः ।।
प्राणलिङ्गव्रते लुप्ते प्रायश्चित्तं न विद्यते ।
प्राणत्यागात् परं तस्मात् सावधानेन धारयेत् ।।
संस्कृत्य गुरुणा दत्तं षडध्वन्यासपूर्वकम् ।
वामहस्ततले लिङ्गं सावधानेन पूजयेत् ।। इति।

---

मन्त्रराज का जप सदा करते रहना चाहिये।। "धारयिता भूयासम्" यह श्रुति इसी अर्थ का प्रतिपादन करती है कि हस्तसिंहासन पर बिना प्रमाद-आलस्य के इस इष्टलिंग की उपासना करे। प्रमादवश यदि इष्टलिंग का शरीर से वियोग हो जाय, तो साधक को उसीके साथ अपने प्राणों का परित्याग कर देना चाहिये।। प्राणलिंग का वियोग हो जाने पर जो नराधम अपने प्राणों को धारण करता है, उसे चण्डाल के समान समझना चाहिये। उसको सभी धार्मिक कृत्यों से बाहर कर देना चाहिये।। इष्टलिंग से वियुक्त हुए, शैवाचारों का पालन न करने वाले व्यक्ति को अपने हृदय में स्थान न दे, क्योंकि वीरशैव सिद्धान्त में प्रायश्चित्त का कोई विधान नहीं है।। शुद्धशैवों के यहाँ यह विधान है कि विशेष रूप से मन्त्राराधन और तान्त्रिक विधि-विधान के आचरण से प्रायश्चित्त विधियों का पालन करके वे शुद्ध हो जाते हैं।। वीरशैव क्रम में प्राणलिंग (इष्टलिंग) के धारण के व्रत का लोप होने पर कोई प्रायश्चित्त नहीं है, उसको तो अवश्य प्राणत्याग करना पड़ता है।। अतः पूरी सावधानी के साथ इष्टलिंग को धारण करना चाहिये। षडध्वन्यास आदि विधि-विधानों से गुरु के द्वारा प्रदत्त संस्कृत इष्टलिंग को वाम हस्ततल पर रखकर सावधानी से उसकी पूजा करनी चाहिये।।

एवमादीनि प्रमाणानि बहूनि सन्ति। विस्तरभयान्नेह लिख्यन्ते।

किञ्च, यजुर्वेदे रुद्रैकादशिन्याम्— "या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी। तया नस्तनुवा शंतमया गिरिशन्ताऽभिचाकशीहि॥" इति। अस्यार्थः— रुदं रोदनं संसारदुःखं द्रावयतीति रुद्रः, रुदमज्ञानं द्रावयतीति वा रुद्रः। हे रुद्र ! अघोरा शान्ताकारा, शिवा मङ्गलप्रदा या ते तनूः = लिङ्गरूपं शरीरम्, सा अपापकाशिनी = अपापेषु काशत इत्यपापकाशिनी। लिङ्गरूपशरीरावच्छिन्नः शिवः शमदमादि-सम्पन्नभक्तगात्रे धार्य इति पर्यवसितोऽर्थः।

केचित्तु हे रुद्र ! तव शिवा निरस्तसमस्तोपप्लवत्वान्निरतिशयानन्तकल्याण-गुणाकरत्वाच्च प्रसिद्धा या तनूः "लिङ्गं तु शिवयोर्देहः" इति वाक्याल्लिङ्गरूपिणी मूर्तिरघोरा शिवयोगेनैव हृदयङ्गमा। किञ्च, अपापा गुर्वनुग्रहप्राप्तशिवदीक्षया सन्दग्धनिखिलकल्मषास्तेषु काशत इति अपापकाशिनीत्यर्थमाहुः।

---

इस तरह के अनेक प्रमाण-वचन शास्त्रों में उपदिष्ट हैं। विस्तार के भय से हम यहाँ उनको नहीं लिख रहे हैं।

इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त यजुर्वेद की रुद्रैकादशिनी में "या ते रुद्र" इत्यादि मन्त्र पठित है। उसका अर्थ यह है — रुद् शब्द का अर्थ रोदन है। उस रोदन, अर्थात् संसार के दुःख को द्रवित कर देने वाला रुद्र कहलाता है। रुद् शब्द अज्ञान का भी वाचक है, इस अज्ञान को द्रवित कर देने वाला भी रुद्र है। उसी रुद्र से यहाँ प्रार्थना की जाती है कि हे रुद्र ! अघोरा = शान्त स्वभाववाली, शिवा = मंगल देने वाली, या ते तनूः = यह जो आपका लिंगमय शरीर है, सा = वह, अपापकाशिनी = पुण्यात्माओं के समक्ष ही प्रकाशित होता है। अभिप्राय यह है कि लिंगस्वरूप को धारण करने वाले शिव शम, दम आदि गुणों से संपन्न भक्तों के शरीर पर ही शोभा पाते हैं।

अन्य आचार्य भिन्न अर्थ करते हैं — हे रुद्र, आपकी शिवा = समस्त दोषों से रहित यह आकृति सर्वोत्कृष्ट है एवं अनन्त कल्याण गुणों को देने वाली है। इस रूप में प्रसिद्ध, या तनूः = लिंगरूपिणी मूर्ति, "लिंग शिव-पार्वती का शरीर है" इस उक्ति के अनुसार शिव और पार्वती का समष्टीभूत शरीर लिंग है। यह लिंगरूपिणी मूर्ति, अघोरा = शिव-पार्वती के अनुग्रह से ही हृदयंगम हो पाती है। अपि च, अपापा = गुरु के अनुग्रह से प्राप्त शिवदीक्षा के कारण जिनके समस्त पाप भस्म हो गये हैं, ऐसे भक्तों के हृदय में ही यह प्रकाशित होती है, अतः यह अपापकाशिनी कहलाती है।

साम्प्रदायिकास्तु 'अपापकाशिनी' इत्यस्य—

अनेकजन्मसिद्धानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम्।
नराणां क्षीणपापानां शिवे भक्तिः प्रजायते।।

प्रसादाद् देवताभक्तिः प्रसादो भक्तिसम्भवः।
यथैवाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः।।

इत्यादिवचनप्रामाण्याद् अनेकजन्मसिद्धपुण्यसञ्चयेन प्रक्षीणपापपञ्जराः श्रौतस्मार्तानुगा ये जनास्तेषु काशत इति अपापकाशिनीत्यर्थमाहुः।

गिरिशन्त इति। गिरौ कैलासे शं स्वोपासकानां निरतिशयानन्दस्वरूपं सुखं तनोतीति गिरिशन्तः। हे गिरिशन्त ! शंतमया सुखतमया तया लिङ्गस्वरूपया तनुवा शरीरेण, नः अस्माकम्, अभिचाकशीहि संसारनिमित्तं पुण्यपापसञ्चयं प्रणूद्य साक्षात् प्रकाशस्वेत्यर्थः।

---

वीरशैव विद्वान् 'अपापकाशिनी' शब्द का भिन्न अर्थ करते हैं। तदनुसार — "अनेक जन्मों में श्रौत और स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान से जिनके समस्त पाप क्षीण हो गये हैं, ऐसे ही सिद्ध व्यक्तियों में भगवान् शिव के प्रति भक्ति पैदा होती है।। देवता के अनुग्रह से ही भक्ति उत्पन्न होती है और देवता का अनुग्रह भक्ति के माध्यम से मिलता है। इन दोनों की उसी प्रकार परस्पर सापेक्षता है, जैसे अंकुर और बीज की। बीज के बिना अंकुर नहीं हो सकता और अंकुरित वृक्ष के बिना बीज नहीं मिलेगा।।" इन प्रमाण-वचनों के आधार पर अनेक जन्मों में अर्जित पुण्यों का संचय होने से जिनके समस्त पापसमूह क्षीण हो गये हैं और इसीके कारण जो श्रौत-स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान में लगे रहते हैं, ऐसे ही व्यक्तियों के हृदय में आपकी यह पवित्र शिवलिंगात्मक तनु (शरीर) आलोकित होती है। इसीलिये इसे 'अपापकाशिनी' कहते हैं।

इस प्रकार यहाँ रुद्रैकादशिनी के उक्त मन्त्र के पूर्वार्ध का अर्थ बताने के बाद अब उत्तरार्ध का अर्थ बताया जा रहा है — " हे गिरिशन्त ! कैलास पर्वत पर अपने उपासकों के लिये निरतिशय आनन्दस्वरूप सुख का विस्तार करने वाले शिव 'गिरिशन्त' कहलाते हैं, यहाँ उनको संबोधित कर प्रार्थना की जाती है कि हे गिरिशन्त ! शंतमया = अत्यन्त सुख प्रदान करने वाली, तया = उस लिंगस्वरूपिणी, तनुवा = तनु (शरीर) से, नः = हमारे सामने, अभिचाकशीहि = संसार के कारणभूत पुण्य और पाप के समूह का समूल नाशकर हमारे हृदय में साक्षात् प्रकाशित होइये।"

अत्रोपबृंहणवचनानि स्कान्दे—

लिङ्गं शिवा तनूः प्रोक्ता मूर्तिर्घोरतनूः स्मृता ।
अपापेषु च भक्तेषु तय(योः) मध्ये शिवा तनूः ।
काशते परमेशस्य शिष्टास्ते लिङ्गधारिणः ।।

अघोराऽपापकाशीति या ते रुद्र शिवा तनूः ।
यजुषा गीयते यस्मात् तस्माच्छैवोऽघवर्जितः ।।

नित्यं भाति तदङ्गेषु या ते रुद्र शिवा तनूः ।
अघोराऽपापकाशीति श्रुतिराह सनातनी ।। इति।

किञ्च, ऋग्वेदे— "पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः। अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समाशत।।" इति। अस्यार्थः— ब्रह्मणस्तपसः पतिर्ब्रह्मणस्पतिरिति। हे ब्रह्मणस्पते ! हे शिव ! अथवा "ब्रह्माधि-

---

स्कन्दपुराण में इस विषय का समर्थन किया गया है — "लिंग शिव की कल्याणमय देह है और मूर्ति उसकी भयानक तनु (शरीर) मानी जाती है। सभी प्रकार के पापों से मुक्त भक्तजनों के समक्ष इनमें से परमेश्वर की मंगलमयी तनु ही प्रकाशित होती है। ऐसे शिष्टजन ही लिंगधारण की योग्यता अर्जित करते हैं। हे रुद्र ! यजुर्वेद में आपकी शान्तस्वरूप वाली, पुण्यात्माओं के समक्ष प्रकाशित होने वाली, मंगलमयी तनू (लिंगमय देह) का कीर्तन किया गया है। इसलिये आपके लिंगमय स्वरूप का धारण करने वाला शैव सभी पापों से मुक्त हो जाता है। हे रुद्र ! उन शैव भक्तों के शरीर पर आपकी यह कल्याणमयी तनू (लिंग स्वरूप) सदा सुशोभित रहती है, इसीलिये इस सनातन लिंगमय देह को श्रुति मंगलमयी और अपापकाशिनी कहती है।

युजर्वेद में ही नहीं, ऋग्वेद में भी आपका यह स्वरूप "पवित्रं ते" इत्यादि मन्त्र में वर्णित है। उसका अर्थ यह है — ब्रह्म, अर्थात् तप का पति ब्रह्मणस्पति कहलाता है। हे ब्रह्मणस्पते ! हे शिव! अथवा "ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्म-णोऽधिपतिः" इस श्रुति के अनुसार सभी विद्याओं के स्वामी हे शिव! ते = आपका, तद् = वह ब्रह्मपद का वाच्य लिंगमय शरीर, पवित्रम् = पवित्र अथवा अपवित्र सभी स्थितियों में भी धारण करने योग्य है, विततम् = ऐसी

पतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः'' इत्यादिश्रुत्या सर्वविद्याधिदेव हे शिव! इत्यर्थः। ते तव तद् ब्रह्मपदवाच्यलिङ्गरूपशरीरं पवित्रं शुच्यशुचिकालेऽपि धर्तुं योग्यं विततं प्रसिद्धम्। अत एव प्रभुर्निग्रहानुग्रहसमर्थस्त्वं विश्वतः समन्ताद् गात्राणि शरीराणि पर्येषि व्याप्नोषि, धार्यमाणः सन् लिङ्गरूपशरीरावच्छेदेन भक्ताङ्ग-संयुक्तोऽसीत्यर्थः।

तथा च अतप्ततनुः— ''तनुत्रयगतानादिमलत्रयमसौ गुरुः। दीक्षात्रयेण निर्दग्ध्वा लिङ्गत्रयमुपादिशत्॥'' इति शङ्करसंहितावचनेन वेधामनुक्रियारूपदीक्षात्रयेण निर्दग्धपापपञ्जरः, आमः = अपरिपक्वान्तःकरणः, तल्लिङ्गं नाश्नुते न प्राप्नोतीत्यर्थः। के पुनः प्राप्नुवन्तीत्याकाङ्क्षायां शृतासः शिवधर्माश्रिताः, इद् लिङ्गं वहन्तो धारयन्तः सन्तस्तत् प्रसिद्धं शिवपदं समाशत, ''धारयेद् यस्तु हस्तादौ लिङ्गाकारं शिवं सदा। तस्य हस्तस्थितं विद्धि मत्पदं सम्पदास्पदम्॥'' इति प्रामाण्यात् प्राप्नुवन्तीति भावः।

---

प्रसिद्धि है। इसीलिये प्रभुः = निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ आप, विश्वतः = सभी दिशाओं में व्याप्त, गात्राणि = शरीरों को, पर्येषि = धारण कर, लिंगस्वरूप दिव्यशरीर को धारण कर भक्तों के शरीरों पर इष्टलिंग के रूप में विराजमान हो जाते हो।

इसके विपरीत जो अतप्ततनु हैं, अर्थात् शंकरसंहिता के वचन के अनुसार स्थूल, सूक्ष्म और पर नामक त्रिविध शरीरगत आणव, मायीय और कार्म नामक त्रिविध मलों को जो व्यक्ति गुरु के द्वारा प्रदत्त वेधा, मनु और क्रिया नामक त्रिविध दीक्षा से जला कर भाव, प्राण और इष्ट लिंगों का उपदेश ग्रहण नहीं करता, उसका अन्तःकरण सर्वविध पापों का क्षय न होने के कारण आमः= अपरिपक्व रहता है। ऐसा व्यक्ति लिंगतत्त्व का साक्षात्कार करने में असमर्थ रहता है। फिर कौन इस लिंगतत्त्व को प्राप्त करते हैं? इसका उत्तर है — शृतासः, अर्थात् शिवधर्म का पालन करने वाले, इद् = इष्टलिंग को, वहन्तः = धारण करने वाले ही, तत् = उस प्रसिद्ध शिवपद को समाशत = प्राप्त करते हैं। ''जो व्यक्ति हस्त आदि स्थानों में लिंगस्वरूप शिव को सदा धारण करता है, उसके हाथ में समस्त सम्पदाओं का खजाना मेरा शिवपद आया ही हुआ समझो'' यह वचन इसमें प्रमाण है।

अत्रोपबृंहणवचनानि—

ब्रह्मेति तप आख्यातं ब्रह्मणस्पतिरीश्वरः ।
पवित्रं तद्धि विख्यातं तत्सम्पर्कात् तनुः शुचिः ।।

ऋगित्याह पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते ।
तस्मात् पवित्रं तल्लिङ्गं धार्यं शैवमनामयम् ।।

अतप्ततनुरज्ञो वै आमः संस्कारवर्जितः।
दीक्षया रहितः साक्षान्नाप्नुयाल्लिङ्गमुत्तमम् ।।

यः करोति तपः पूर्वं स तप्ततनुरुच्यते ।
परिपक्वो विमोक्षाय सोऽश्नुते लिङ्गधारणम् ।।

न करोति तपः पूर्वं सोऽतप्ततनुरुच्यते ।
अपक्वोऽयं विमोक्षाय नाश्नुते लिङ्गधारणम् ।।

---

इस विषय का भी समर्थन करने वाले वचन उपलब्ध हैं — "ब्रह्म शब्द तप का वाचक है, उस तपोरूपी ब्रह्म के पति भगवान् शिव हैं। वह ईश्वर पवित्र इष्टलिंग का स्वरूप धारण करते हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। इस इष्टलिंग के सम्पर्क से साधक का शरीर पवित्र हो जाता है।। "पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते" यह ऋग्वेद का मन्त्र इसकी पवित्रता का उद्घोष करता है, इसलिये यह पवित्र, सभी दोषों से रहित शैव लिंग (इष्टलिंग) सभी के लिये धारण करने योग्य है।। अतप्ततनु शब्द का अर्थ अज्ञानी पुरुष है, यह मल से आवृत अज्ञानी पुरुष आम कहलाता है, अर्थात् दीक्षा जैसे संस्कारों से अछूता रहता है। दीक्षा जैसे संस्कार से रहित होने के ही कारण गुरु के द्वारा प्रदेय उत्तम इष्टलिंग को वह अपने आप प्राप्त नहीं कर पाता।। जो साधक तपस्या के द्वारा अपने शरीर को तपाता है, वह तप्ततनु कहलाता है। वह मोक्ष की प्राप्ति के निमित्त परिपक्व हो जाता है। ऐसा ही व्यक्ति इष्टलिंग-धारण की योग्यता प्राप्त करता है।। जो व्यक्ति पहले तप नहीं करता, उसे अतप्ततनु कहा जाता है। उसमें मोक्ष-प्राप्ति की योग्यता नहीं आने पाती, अतः वह इष्टलिंग को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।। शिव धर्म का आचरण करने वाले, शान्त स्वभाव वाले, शिव की पूजा में सदा लगे रहने

शिवधर्माश्रिताः शान्ताः शिवार्चनपरायणाः ।
ये वहन्तः सदा लिङ्गं ते यान्ति परमां गतिम् ।। इति।

किञ्च, हंसोपनिषदि— "हृदब्जमध्ये लिङ्गं धृत्वा ज्योतिषि संविशन्ति। अत्याश्रमस्थाः परिमुच्यन्ति सर्वे लिङ्गाङ्गशोभा मोक्षमार्गैकनिष्ठाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले शिवप्रसादात् परिमुच्यन्ति सर्वे।।", "लिङ्गाङ्गसामरस्याच्च शरीरे लिङ्ग-धारणात्। नियमेनैव धृत्वा ते मुक्ताः संसारबन्धनात्।।" इति।

मनुस्मृतौ— "सर्वकर्मविमुक्तस्य ध्यानयोगरतस्य च। न तस्य दहनं कार्यं न च पिण्डोदकक्रिया।। शिवध्यानरतो भूत्वा शिवलिङ्गाङ्गसंयुतः। शिवेतरपरित्यागी ध्यानयोगी स उच्यते।।" इति। बौधायनस्मृतौ— "सर्वसङ्ग-निवृत्तस्य ध्यानयोगरतस्य च। न तस्य दहनं कार्यं नाशौचं नोदनक्रियाः।।" इति। शातातपस्मृतौ— "वानप्रस्थं योगिनं च लिङ्गैक्यं भिक्षुकं पति(यतिम्)।

---

वाले साधक ही इष्टलिंग को सदा धारण किये रहते हैं और वे ही परम गति को प्राप्त करते हैं।।"

हंसोपनिषद् में यह विषय इस प्रकार वर्णित है — "हृदयकमल के मध्य में प्राणलिंग को धारण करने वाले, उसकी उपासना करने वाले भक्त ज्योतिर्मय स्वरूप में लीन हो जाते हैं। अत्याश्रमी वीरशैव धर्म में स्थित सभी भक्तगण अपने अंग पर लिंग की शोभा से सुशोभित होकर मोक्ष मार्ग का अवलंबन कर मुक्त हो जाते हैं। ये सभी भक्तगण ब्रह्मलोक में निवास करते हैं और अन्त में शिव के अनुग्रह से मुक्त हो जाते हैं।। शरीर पर इष्टलिंग के धारण करने से और नियमपूर्वक उसको धारण किये रहने से भक्तगण लिंग (शिव) और अंग (जीव) में समरसता के प्राप्त हो जाने पर सभी प्रकार के सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं।।"

मनुस्मृति में भी बताया गया है — सभी तरह के कर्मों से विमुक्त और ध्यानयोग के अभ्यास में सदा लगे हुए योगी का मृत्यु के बाद दाह-संस्कार नहीं करना चाहिये और न पिण्डदान, जलांजलि जैसी क्रियाएँ ही करनी चाहिये।। शिवध्यान में सदा लगा रहने वाला, शिवलिंग में अपने अंग का समावेश कर देने वाला, शिव से भिन्न अन्य देवताओं की आराधना से विरत रहने वाला व्यक्ति ध्यानयोगी कहलाता है।।" बौधायनस्मृति में बताया गया

तुर्याश्रमाणां मध्ये च रसायां निक्षिपेन्मृतम्।।'' इति। पद्मपुराणे— ''कण्ठेषु हरकण्ठादिमुनयो मनवस्तथा। सर्वदा शिवलिङ्गं तु धारयन्ति यजन्ति च।।'' इति। शिवगीतायाम् — ''अज्ञोपहासो भक्तश्च भूतिरुद्राक्षधारिण:। लिङ्गिनो यश्च विद्वेष्टि ते वै नात्राधिकारिण:।।'' इति। तैत्तिरीयोपनिषदि— ''अमृतस्य देवधारणो भूयासम्'' इति। भस्मजाबालोपनिषदि — ''भसितं ये विनिन्दन्ति निन्दन्ति शिवमेव हि। धारयन्ति च ये भक्त्या धारयन्ति शिवं च ते।।'' इत्यादीनि श्रुतिस्मृतिपुराणागमोपनिषत्प्रमाणानि बहूनि सन्ति। विस्तरभयाद् विरम्यते।

अत: स्वस्वरूपानन्दसारभूतलिङ्गाङ्गसामरस्यरूपां कैवल्यलक्ष्मीमवाप्तुकामस्तत्कालसमुत्पन्नविवेकादिगुणसम्पन्न: परमभक्तिसम्भावित: पुरुषो लिङ्गाङ्गसामरस्य-

---

है — ''सभी प्रकार की सांसारिक आसक्तियों से विरत और सदा ध्यानयोग में निरत योगी की दहनक्रिया नहीं की जाती, न ही उसके निमित्त आशौच का पालन किया जाता है और न ही जलांजलि आदि ही दी जाती है।।'' शातातपस्मृति कहती है — ''वानप्रस्थी, योगी, लिङ्गैक्य-संपन्न शिवयोगी, भिक्षुक और तुर्याश्रमी (संन्यासी) का मृत्यु के उपरान्त भूमि में निक्षेप किया जाता है।।'' पद्मपुराण का कहना है — ''हरकण्ठ आदि मुनिगण और मनुगण अपने कण्ठ आदि अंगों में सदा शिवलिंग धारण करते हैं और उनकी पूजा करते हैं।।'' शिवगीता में गाया गया है —''भस्म और रुद्राक्ष को धारण करने वालों और इष्टलिंग को धारण करने वालों के साथ जो द्वेषभाव को रखते हैं, उनका शिवपूजा में अधिकार नहीं है।।'' तैत्तिरीयोपनिषद् कहती है — ''अमृतत्व को प्रदान करने वाले इष्टलिंग का मैं धारक बनूं''। भस्मजाबालोपनिषद् भी इस विषय को स्पष्ट करती है — ''जो व्यक्ति भस्म की निन्दा करते हैं, वे एक प्रकार से शिव की ही निन्दा करते हैं और जो भस्म धारण करते हैं, वे भक्तिपूर्वक शिव को ही धारण करते हैं।।'' इस प्रकार इष्टलिंग, भस्म, रुद्राक्ष आदि के धारण करने के पक्ष में श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम, उपनिषद् आदि के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। विस्तार के भय से इस विषय पर इतना ही लिखकर हम विराम ले रहे हैं।

इसलिये अपने आनन्दात्मक स्वरूप की सारभूत लिंगांगसामरस्य रूप कैवल्यलक्ष्मी को चाहने वाला मुमुक्षु उसी समय उत्पन्न हुए विवेक, वैराग्य

सारसर्वस्वं स्वगोत्रसूत्रप्रवरादिसहितं गुरुस्थलानुयातपरमगौरवं गुरुपट्टाभिषिक्त-परमपावनं भगवन्तं परमकारुणिकं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं सद्गुरुमवाप्य तदनुग्रहप्राप्त-शिवदीक्षासंस्कारपुरःसरं सच्चिदानन्दस्वरूपं सर्वैश्वर्यसम्पन्नं सर्वानुग्राहकं सर्वकर्म-समाराध्यं निरस्तसमस्तदोषकलङ्कं निरतिशयमाङ्गल्यगुणरत्नाकरं भगवन्तं शिवलिङ्गरूपं परमेश्वरं धृत्वा लिङ्गाङ्गसामरस्यरहस्यप्रतिपादकं षट्स्थल-शास्त्रश्रवणेन लिङ्गध्यानानुरूपप्राणलिङ्गानुसन्धानसमासादितकैवल्यलक्ष्मीमाप्नुयात्।

लिङ्गाङ्गसामरस्यप्रकारस्त्वागमेषु— "घनलिङ्गं महाभासं सच्चिदानन्द-लक्षणम्। निष्कलं निष्क्रियं शान्तं स्वतन्त्रं स्वप्रकाशितम्।। सर्वेषां स्थानभूतत्वा-ल्लयभूतत्वतस्तथा। तत्त्वानां महदादीनां स्थलमित्यभिधीयते।। स्थाणौ सर्वाश्रयेऽनन्ते सच्चिदानन्दरूपिणि। यस्मिन् ब्रह्मणि लीयेत प्रपञ्चस्तत्स्थलं स्मृतम्।। स्वशक्ति-क्षोभमात्रेण स्थलं तद् द्विविधं भवेत्। एकं लिङ्गस्थलं प्रोक्तमन्यदङ्गस्थलं स्मृतम्।।

---

आदि गुणों से संपन्न होकर, परमभक्ति से परिपूर्ण होकर, लिंगांग के सामरस्य से पूरी तरह से ओतप्रोत होकर, अपने गोत्र, सूत्र, प्रवर आदि से समन्वित, गुरुस्थल तक पहुँच जाने से अत्यन्त गौरव से संपन्न, गुरु पद पर पट्टाभिषेक से संपन्न होने से परम पवित्र, भगवान्, परम कारुणिक, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु को प्राप्त कर; उनके अनुग्रह से अधिगत शिवदीक्षा रूपी संस्कार से संपन्न होकर; सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, सभी प्रकार के ऐश्वर्य से संपन्न, सब पर अनुग्रह करने वाले, सभी प्रकार के कर्मों के द्वारा आराधनीय, समस्त दोषरूपी कलंक से उत्तीर्ण, अनन्त मंगलमय गुणों के समुद्र, भगवान् शिवलिंगरूपी महेश्वर को अपने अंग पर धारण कर; लिंगांग के सामरस्यरूपी रहस्य के प्रतिपादक, षट्स्थल के उपदेशक शास्त्र का श्रवण कर इष्टलिंग के ध्यान के अनुरूप प्राणलिंग का अनुसन्धान करने से प्राप्त कैवल्यलक्ष्मी का उपभोग करे।

लिंग और अंग के सामरस्य का प्रकार आगमों में इस प्रकार वर्णित है — "घनलिंग के रूप में सर्वप्रथम प्रकाशित हो रहा, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप, निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, स्वतन्त्र, स्वयं प्रकाशमान ब्रह्म ही **स्थल** के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि यह सभी वस्तुओं का उत्पत्ति-स्थान है और इसीमें सबका लय भी हो जाता है। महद् आदि तत्त्वों का भी यह निवास-स्थान है। इसीलिये इसको स्थ (स्थिति) ल (लय) कहते हैं।। अनन्तगुणसंपन्न, सत्-चित्-आनन्द

लिङ्गस्थलं त्रिधा ज्ञेयं भावप्राणेष्टभेदत:। प्रथमं भावलिङ्गं स्याद् द्वितीयं प्राणलिङ्गकम्।। तृतीयमिष्टलिङ्गं स्यादित्येवं त्रिविधं स्मृतम्। एकमे(व) स्थलं भूयो द्विविधं द्विविधं भवेत्।। महालिङ्गं प्रसादाख्यं भावलिङ्गविभागजम्। प्राणलिङ्गाज्जङ्गमाख्यं शिवलिङ्गं च भिद्यते।। गुरुलिङ्गं तथाऽऽचारलिङ्गमिष्टविभागत:। अङ्गस्थलं तथा प्रोक्तमाचार्यैः सूक्ष्मदर्शिभि:।। योगाङ्गं प्रथमं प्रोक्तं भोगाङ्गं च द्वितीयकम्। त्यागाङ्गं च तृतीयं स्यादित्येवं त्रिविधं स्मृतम्।। योगाङ्गमैक्यं शरणं स्थलमित्युभयं भवेत्। प्राणलिङ्गी प्रसादीति द्वयं भोगाङ्गमिष्यते।। माहेश्वरस्थलं भक्तस्थलमित्युभयस्थलम्। त्यागाङ्गं भवतीत्येव प्रोच्यते तत्त्वदर्शिभि:।।'' इति।

अयं भाव: — सच्चिदानन्दरूपं निरस्तसमस्तदोषकलङ्कं निरतिशयमाङ्गल्यगुणरत्नाकरं निखिलप्रपञ्चसृष्टिस्थितिलयभित्तिस्थानभूतं वस्तु स्थलशब्देनाभिधीयते।

---

स्वरूप स्थाणु = भगवान् शिव सभी के आश्रय-स्थल हैं। इसी ब्रह्मस्वरूप में समस्त प्रपंच का लय हो जाता है, अत: यह स्थल कहलाता है।। अपनी शक्ति के क्षुब्ध होने पर यह स्थल दो आकारों में विभक्त हो जाता है। इनमें एक का नाम लिंगस्थल और दूसरा अंगस्थल के नाम से प्रसिद्ध होता है।। इनमें से लिंगस्थल के भाव, प्राण और इष्ट के भेद से तीन प्रकार होते हैं। पहला भावलिंग, दूसरा प्राणलिंग और तीसरा इष्टलिंग। इस प्रकार लिंगस्थल के तीन भेद हो जाते हैं। इन तीनों भेदों के भी पुन: दो-दो भेद हो जाते हैं।। जैसे कि भावलिंग के महालिंग और प्रसादलिंग, प्राणलिंग के जंगमलिंग एवं शिवलिंग और इष्टलिंग के गुरुलिंग और आचारलिंग नामक दो-दो भेद होते हैं। इसी तरह से सूक्ष्मदर्शी आचार्यों ने अंगस्थल के भी तीन भेद बताये हैं। इनमें योगांग पहला, भोगांग दूसरा और त्यागांग तीसरा भेद है।। इनमें से भी प्रत्येक के दो-दो भेद हो जाते हैं। जैसे कि योगांग के ऐक्य और शरण, भोगांग के प्राणलिंगी और प्रसादी तथा त्यागांग के माहेश्वर और भक्त नामक विभाग माने गये हैं। तत्त्वदर्शी आचार्यों ने इस प्रकार षड्विध लिंगस्थलों एवं षड्विध अंगस्थलों का विभाग बताया है।।''

इस उद्धरण के अभिप्राय को इस तरह समझना चाहिये — सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, समस्त दोषरूपी कलंक से निर्मुक्त, अनन्त मंगलमय गुणों के खजाने, समस्त प्रपंच (संसार) की सृष्टि, स्थिति और लय की मूल

तद्वस्तूक्तलक्षणमूलप्रणवप्रकाशैकविग्रहं परशिवतत्त्वम्। मानान्तरनिरपेक्षभासमानत्वात् स्वप्रकाशम्। कारणान्तरनिरपेक्षविलक्षणकर्तृत्वात् स्वतन्त्रम्। स्वसत्तातिरिक्त-सत्ताकत्वाभावात्, स्वसंवेदनातिरिक्तसंवेदनाभावात्, स्वाकाशाकारवृत्त्यन्तर-निरपेक्षत्वाच्च सच्चिदानन्दस्फुरणमयम्। एवंविधपरिपूर्णाहन्तात्मकपरमशिवस्य पूज्यपूजकलीलायां निस्तरङ्गसमुद्रे तरङ्गोत्पत्तेः प्राग् लहरीव स्वात्मनि ईषच्चलन-मुत्पद्यते। तच्चलनेनान्योन्यसमरसीभूतस्वतन्त्रप्रकाशतामात्रे तूत्तमकर्तृतामात्र-वियोगान्न्यूनाधिकभावेन स द्विधा भिद्यते। तत्राधिकभावापन्नप्रकाशतायां प्रतिस्फुरणगत्या प्रविष्टमूलप्रणवरूपशिवचैतन्यमेव लिङ्गतत्त्वं भवति। न्यूनीभूतप्रकाशतायां तथैव प्रविष्टशिवचैतन्यमेवाङ्गतत्त्वं भवति। एवं लिङ्गतत्त्वं

---

आधारभूत वस्तु **स्थल** के नाम से जानी जाती है। यह वस्तु ऊपर बताये गये लक्षणों से सम्पन्न मूल प्रणव (ॐकार) स्वरूप प्रकाशात्मक परशिवतत्त्व से अभिन्न है। बिना किसी प्रमाण के यह भासित होता है, अतः यह स्वयंप्रकाश है। बिना किसी कारण की अपेक्षा किये विलक्षण पदार्थों की सृष्टि करने में समर्थ होने से यह स्वतन्त्र है। अपनी सत्ता के अतिरिक्त इसे अन्य किसी सत्ता की अपेक्षा नहीं है, अपने संवेदन (ज्ञान) के अतिरिक्त अन्य किसी संवेदन की अपेक्षा नहीं है और आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त आनन्दाकार वृत्ति के सिवाय दूसरी किसी वृत्ति के न रहने से यह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप में सदा स्फुरित होता रहता है। इस तरह की परिपूर्ण अहन्ता के रूप में भासित हो रहा यह परमशिव जब पूज्य और पूजक के रूप में लीला करना चाहता है, तब निस्तरंग (शान्त) समुद्र में लहरियों की उत्पत्ति के पहले जैसे क्षोभ होता है, उसी तरह से परमशिव में भी ईषच्चलत्ता (क्षोभ) की प्रतीति होने लगती है। इस ईषच्चलन के कारण आपस में मिली हुई अहन्ता और इदन्ता के समरसीभूत स्वतन्त्र प्रकाशमय स्वभाव उत्तम वचन (अहन्ता) की कर्तृता का विचलन हो जाने से उसमें अहन्ता और इदन्ता के रूप में न्यूनाधिक भाव के कारण वह द्विधा विभक्त हो जाती है। प्रकाश के आधिक्य से मिला हुआ जो स्फुरण होता है, उसमें मूल प्रणव (ॐकार) रूप शिवचैतन्य ही लिंगतत्त्व बन जाता है और प्रकाश की न्यूनता के रहने पर उसमें प्रविष्ट शिवचैतन्य ही अंग-तत्त्व बन जाता है। यहाँ लिंगतत्त्व में क्रमशः सत्-चित्-आनन्द के प्रतिबिंबित होने पर, इनका विभाजन होने पर भावलिंग, प्राणलिंग और

क्रमेण सच्चिदानन्दप्रतिफलनकलनात्मक(कं) भावलिङ्गमिति, प्राणलिङ्गमिति, इष्टलिङ्गमिति त्रिविधं भवति। पुनरिदं लिङ्गत्रयं प्रत्येकं द्विविधं भवति। तत्र भावलिङ्गं हि महालिङ्गं प्रसादलिङ्गमिति द्विविधम्। प्राणलिङ्गं तु जङ्गमलिङ्गं शिवलिङ्गमिति द्विविधम्। इष्टलिङ्गं तु गुरुलिङ्गमाचारलिङ्गमिति द्विविधं भवति। एवं लिङ्गस्थलं षड्विधं भवति।

सा स्वतन्त्रस्वप्रकाशताशक्तिरेव क्रमादेषु लिङ्गेषु सूक्ष्मकार्यकरणप्रपञ्चोपादान-कारणीभूतचिच्छक्त्यपरपर्याय-प्रणवरूपशान्त्यतीतोत्तराख्यकलेति, आनन्दरूप-पराशक्त्यपरपर्याय-यकारमयशान्त्यतीतकलेति, औन्मुख्यलक्षणाऽऽदिशक्त्यपर-पर्याय-वाकाररूपशान्तिकलेति, सूक्ष्मक्रियालक्षणेच्छाशक्त्यपरपर्याय-शिकाररूप-विद्याकलेति, बहिर्मुखज्ञानशक्त्यपरपर्याय-मकाररूपप्रतिष्ठाकलेति, स्थूलोद्यम-क्रियाशक्त्यपरपर्याय-नकाररूपनिवृत्तिकलेति षड्रूपतामगमत्।

---

इष्टलिंग के रूप में त्रिविध आकार ग्रहण कर लेता है। यह त्रिविध लिंग पुनः दो-दो आकार ग्रहण लेता है। यहाँ भावलिंग के महालिंग और प्रसादलिंग नामक दो भेद, प्राणलिंग के जंगमलिंग और शिवलिंग नामक दो भेद तथा इष्टलिंग के गुरुलिंग और आचारलिंग नामक दो भेद — इस तरह से लिंगस्थल के भी छः भेद सम्पन्न होते हैं।

वह स्वतन्त्र स्व-प्रकाशमय शक्ति ही इन षड्विध लिंगों में क्रमशः सूक्ष्म कार्य-कारण प्रपंच की उपादानकारणीभूत शान्त्यतीतोत्तर कला के रूप में अभिव्यक्त होती है। यही चिच्छक्ति और प्रणवस्वरूप भी कहलाती है, अर्थात् षडक्षर मन्त्र में स्थित प्रणव की यह चिच्छक्तिमय कला है। इसी तरह आनन्द-शक्तिमय पराशक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली शान्त्यतीत कला मन्त्र में विद्यमान यकार वर्ण में स्थित है। औन्मुख्य-लक्षण आदिशक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली शान्ति कला मन्त्र में स्थित वाकार वर्ण में विद्यमान है। सूक्ष्मा क्रियाशक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली इच्छाशक्ति मन्त्र में स्थित शिकार वर्ण में विद्या कला की, बहिर्मुख ज्ञानशक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली प्रतिष्ठा कला मन्त्र में विद्यमान मकार अक्षर में और स्थूल उद्यम के रूप में क्रियाशक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाली निवृत्ति कला मन्त्र में विद्यमान नकार अक्षर में स्थित है। इस तरह एक ही स्वतन्त्र, स्वप्रकाशस्वरूप शक्ति षड्विध लिंगों में षडक्षर मन्त्र के प्रत्येक अक्षर में क्रमशः षड्विध शक्तियों का स्वरूप धारण कर विद्यमान रहती है।

एवं च महालिङ्गं तावत् सर्वपदार्थानुसन्धानलक्षणमनोरूपत्वात् शुद्धानुसन्धातृरूपब्रह्मचक्रस्थितिम्, प्रसाद्याद‍िलिङ्गपञ्चकं तु क्रमेण शब्दादिप्रतिनियतपदार्थानुसन्धानरूपाऽऽधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धिचक्रस्थितिं लभते। एवंविधलिङ्गतत्त्वस्य सागरतरङ्गभङ्गीन्यायेनाऽभेदपर्यवसायिभेदप्रधानलक्षणशुद्धानुसन्धानरूपत्वेनानुग्रहहेतुत्वाद् उपास्यमित्युच्यते।

एवमङ्गतत्त्वं च त्रिविधम् — स्वात्मगुरुजङ्गमानामैक्ययोगानुसन्धानलक्षणं योगाङ्गमिति, तदर्पितप्रसादपरमोपादेयस्वीकारसुखपरिणमनलक्षणं भोगाङ्गमिति, गुरुलिङ्गजङ्गमेष्ववञ्चनीयपरित्यजनीयतनुमनधनरूप(पं) त्यागाङ्गमिति। इदं च प्रत्येकं द्विविधम् — योगाङ्गं तु ऐक्यं शरणमिति भिद्यते, भोगाङ्गं तु प्रसादि(दी) प्राणलिङ्गीति भिद्यते, त्यागाङ्गं तु माहेश्वरं भक्तस्थलमिति भिद्यते।

---

इन षड्विध लिंगों की षड्विध चक्रों में स्थिति इस प्रकार बताई गई है — पहला महालिंग सभी पदार्थों का अनुसन्धान करने वाले मन का प्रतिनिधि है, अत: शुद्ध अनुसन्धाता के रूप में ब्रह्मचक्र में इसकी स्थिति मानी गई है। प्रसादी आदि पाँच लिंगों की क्रमश: शब्द आदि पाँच प्रतिनियत विषयों से संबद्ध पदार्थों का अनुसन्धान करते हैं, अत इनकी क्रमश: आधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत औंर विशुद्धि चक्र में स्थिति मानी जाती है। इस प्रक़ार का यह षड्विध लिंगतत्त्व सागर-तरंगभंगी न्याय से अन्तत: अभेद में ही पर्यवसान होने पर भी भेद की भी प्रधान रूप से स्थिति रहने से जब इनके शुद्धस्वरूप का अनुसन्धान होता है, तब इन षड्विध स्वरूपों में अनुग्रह करने की सामर्थ्य के रहने से ये उपास्य के रूप में पूजनीय होते हैं।

लिंगतत्त्व के समान अंगतत्त्व के भी तीन भेद होते हैं — अपनी आत्मा (इष्टलिंग), गुरु और जंगम में एकात्मता रूपी योग का अनुसन्धान योगांग, इनको समर्पित प्रसाद की सर्वोत्कृष्टता को स्वीकार करते हुए उसीमें सुख का अनुभव करना भोगांग और गुरु, लिंग एवं जंगम के निमित्त बिना वंचना के शरीर, मन तथा धन का भी परित्याग कर देना त्यागांग कहलाता है। इनमें से भी प्रत्येक के दो-दो भेद होते हैं — योगांग के ऐक्य और शरण नामक दो भेद, भोगांग के प्रसादी और प्राणलिंगी नामक दो भेद और त्यागांग के माहेश्वर और भक्त नामक दो भेद होते हैं। इस प्रकार षड्विध अंगतत्त्व की स्थिति बनती है।

एवं षड्विधाङ्गप्रकाशानां न्यूनीभावमापन्ना सा शक्तिरेव समरसभक्तिरानन्दभक्तिरनुभवभक्तिरवधानभक्तिर्नैष्ठिकभक्तिः श्रद्धाभक्तिरिति षड्विधभक्तिरूपतां भावज्ञानमनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तलक्षणान्तःकरणषट्कतां श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियरूपतां शब्दादितद्विषयतृप्तिलक्षणषट्पदार्थतां तद्वाचकषडक्षरीरूपतां क्रियासाधनीभूतवागादिकर्मेन्द्रियरूपतां सूक्ष्मरूपाकाशादिभूतपञ्चकसमष्टिरूपतां सद्भावसुज्ञानसुमनोनिरहङ्कारसुबुद्धिसुचित्ताख्यषट्करूपतां च प्राप्याङ्गमभवत्।

एवंविधाङ्गतत्त्वस्य महेश्वरीयलीलाशक्तिपरिकल्पितसङ्कुचितचिदादिशक्ति-(चिदादिशक्ति?)स्वभावत्वेऽपि सूक्ष्मरूपमानसव्योमाद्युपाधिसंवलितत्वेनोर्ध्वसृष्टिरूपविभागनिबन्धनभेदप्रधानलक्षणशुद्धविद्याप्रमातृरूपत्वादुपासकमित्युच्यते।

एवं च लिङ्गतत्त्वस्य शरणतत्त्वमङ्गम्, शरणस्य लिङ्गं प्राणः, अनयोर्बीजवृक्षन्यायेनान्योन्यसामरस्यमेव। एवमनादितः शरण एव लिङ्गं लिङ्गमेव शरण

---

षड्विध अंगतत्त्व के रूप में परिणत हुए प्रकाशात्मक तत्त्व की शक्ति जब संकुचित हो जाती है, तो वह क्रमशः समरसभक्ति, आनन्दभक्ति, अनुभवभक्ति, अवधानभक्ति , नैष्ठिकभक्ति और श्रद्धाभक्ति नामक षड्विध भक्ति का रूप धारण कर लेती है। इसी तरह से भाव, ज्ञान, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त नामक षड्विध अन्तःकरण, श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रिय, शब्द आदि ज्ञानेन्द्रियों के विषयों के साथ तृप्ति नामक षड्विध पदार्थों के, तद्वाचक षडक्षरी मन्त्र के, क्रिया के साधनीभूत वाक् आदि कर्मेन्द्रियों के तथा आकाश आदि के सूक्ष्म रूपों को धारण करने वाली आकाश आदि तन्मात्राओं की समष्टि रूपता के और सद्भाव, सुज्ञान, सुमनस्, निरहंकार, सुबुद्धि और सुचित्त नामक षड्विधता के रूपों में अंगतत्त्व भासित होने लगता है।

इस प्रकार का यह महेश्वर की लीलाशक्ति के द्वारा परिकल्पित संकोच के कारण चिच्छक्ति आदि का भी संकोच हो जाने पर सूक्ष्मरूप मानस, व्योम आदि की उपाधियों से संयुक्त हो जाने पर आगे की स्थूल सृष्टि के रूप में विभक्त हो जाने से, भेदकता ही जिसका प्रधान लक्षण है, ऐसी भेददृष्टि की ग्राहिका अशुद्ध विद्या से आवृत प्रमाता के रूप में यह अंगतत्त्व उपासक कहलाता है। इस प्रकार लिंग और अंग तत्त्व की भेदकता के आधार पर इनका परस्पर उपास्य-उपासक भाव स्पष्ट हो जाता है।

इस तरह से लिंगतत्त्व का शरणतत्त्व अंग है और शरण का प्राण लिंगतत्त्व है। इन दोनों का बीज और वृक्ष के न्याय से परस्पर सामरस्य माना जाता है।

इति तत्त्वम्। अथैवंविधशरणस्य स्वविमर्शलक्षणगुरुकटाक्षसम्प्राप्तस्वात्मप्रत्यभिज्ञानशालित्वादेतन्मन एव प्राण(प्रणव)रूपं महालिङ्गम्, बाह्येन्द्रियलक्षणश्रोत्राद्ये-कैकेन्द्रियविषयशब्दादिसकलपदार्थग्राहकत्वादन्तर्ल्लिङ्गमित्युच्यते। नादसुनादमहानादरूपदेशिकवाक्यशास्त्रविपक्षाध्यवसायोक्तिपश्यन्त्यादिक्रमेणानुग्रहात्मकप्रसादहेतुत्वात् शब्दग्रहणसाधनं यकारवाच्यं प्रसादलिङ्गम्। चरजङ्गमयोः पर्यायत्वात् तस्य त्वक् सर्वाङ्गव्याप्ता सती तत्र शीतादिस्पर्शसाधनत्वाद् वाकारवाच्यं जङ्गमलिङ्गम्। महाप्रकाश एव नेत्रगोलकं प्रविष्टः सन् सकलरूपपदार्थप्रकाशनसाधनत्वान्नेत्रमेव शिकारमयं शिवलिङ्गम्। गुरुमन्त्रमूर्तित्वात् षडक्षरीमन्त्र एव मधुराम्लादिषड्रसरूपतां प्राप्त इति तादृशमन्त्रोच्चारणरसास्वादनसाधनत्वाद् जिह्वैव मकारमयं गुरुलिङ्गम्। इडापिङ्गलाख्यनाडीद्वारा प्राणवायुसञ्चाराश्रयत्वात् सत्कर्माचरणहेतुभूतदेहशुद्धिरूप-रेचकादिक्रमोत्पन्नप्राणायामाचरणसाधनत्वाच्च घ्राणमेव नकारमयमाचारलिङ्गमिति लिङ्गलक्षणमवगन्तव्यम्।

---

अतः यह समझ लेना चाहिये कि अनादि काल से शरण ही लिंग है और लिंग ही शरण है। इस तरह से शरण अपने विमर्शरूपी गुरु की कृपा से जब स्वात्मप्रत्यभिज्ञा से संपन्न हो जाता है, तब इसका मन ही प्राण (प्रणव) रूप महालिंग से समरस हो जाता है। बाह्येन्द्रिय के नाम से जानी जानेवाली श्रोत्र आदि एक-एक इन्द्रिय की सहायता से शब्द आदि समस्त पदार्थों का ग्राहक होने से इसे लिंग कहा जाता है। नाद, सुनाद, महानाद रूप देशगत अवकाश के कारण विपरीत अध्यवसायों के आधार पर पश्यन्ती आदि वाणियों के क्रम से अनुग्रहात्मक प्रसाद के कारणभूत शब्द के ग्रहण में समर्थ मन्त्रगत यकार को प्रसादलिंग माना गया है। चर और जंगम की स्थिति पर्याय से मानी गई है। इनके सर्वांग में व्याप्त त्वक् शीत-उष्ण आदि स्पर्श को ग्रहण करने में समर्थ जंगमलिंग मन्त्रगत वाकार का वाच्य है। महाप्रकाश नेत्रगोलक में प्रविष्ट होकर समस्त रूपों के प्रकाशन में समर्थ नेत्र मन्त्रगत शिकारमय शिवलिंग कहलाता है। गुरु मन्त्र की ही मूर्ति है, अतः षडक्षरी मन्त्र ही मधुर, अम्ल आदि षड्विध रस के रूप को प्राप्त कर षडक्षरी मन्त्र के उच्चारण के रस का आस्वादन करने में समर्थ जिह्वा मन्त्रगत मकारमय गुरुलिंग है। इडा और पिंगला ये दो नाडियाँ प्राण वायु के संचार की प्रमुख साधन हैं। किसी भी पुण्य कार्य के करने से पहले देहशुद्धि के लिये रेचक आदि त्रिविध प्राणायाम के माध्यम से देह की शुद्धि की जाती है, अतः घ्राणेन्द्रिय ही मन्त्रगत नकारमय आचारलिंग मानी जाती है। इस तरह से षड्विध लिंगों के लक्षण जानने चाहिये।

अथ गुरुलिङ्गजङ्गमानामैक्यधिया भस्मरुद्राक्षादिशिवलाञ्छनेषु शिवशरणेषु च प्रीतिलक्षणभक्तिमानेव भक्तः। तथा च — "सदाचारः शिवे भक्तिर्लिङ्गे जङ्गम एकधीः। लाञ्छने शरणे भक्तिर्भक्तस्थलमनुत्तमम्।।" इति शङ्करसंहितोक्तेः। एवमग्रेऽपि संहितायाः प्रामाण्यं बोध्यम्।

शिव एव श्रीगुरुलिङ्गजङ्गमात्मक इति निष्ठावान् परस्त्रीपरद्रव्याशावर्जितो निर्मलस्वभावो माहेश्वर इति। तथा हि— "परस्त्रियं परार्थं च वर्जितो भावशुद्धिमान्। लिङ्गनिष्ठानियुक्तात्मा माहेश्वरमहास्थलम्" इति।

श्रीगुरुलिङ्गजङ्गमप्रसादोपभोगी लिङ्गस्वाहिताचारवान् षट्त्रिंशत्प्रकारार्पित-सदाचारसम्पन्न एव प्रसादीति। तथा हि— "लिङ्गार्पितपदार्थं च(र्थश्च) सुभोगी लिङ्ग आहितः। अनर्पितविवर्जी च प्रसादिस्थलमुत्तमम्।।" इति।

---

अब षड्विध अंगों का स्वरूप बताया जा रहा है। गुरु, लिंग और जंगम में ऐक्य बुद्धि (अभेददृष्टि) स्थापित कर भस्म, रुद्राक्ष आदि शिव के चिह्नों में एवं शिव के शरण में आये जीवों में प्रेमपूर्वक व्यवहार करने वाला **भक्त** कहलाता है। शंकरसंहिता में भक्त के स्वरूप का वर्णन इस तरह से किया गया है — "सदाचारों का पालन करने वाला, शिव में भक्ति रखने वाला, लिंग और जंगम में समान दृष्टि रखने वाला, शिव के लांछनों एवं शरण में भक्ति रखने वाला अनुत्तम भक्त(स्थल) माना गया है"। इसी तरह से आगे माहेश्वरस्थल आदि के प्रसंग में भी शंकरसंहिता को ही प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

शिव ही श्रीगुरु, लिंग और जंगम का स्वरूप धारण करते हैं, इस तरह की निष्ठा (दृढ विश्वास) से संपन्न, परस्त्री एवं परद्रव्य से विमुख, निर्मल स्वभाव वाला अंग महेश्वर कहलाता है। जैसा कि शंकरसंहिता में बताया गया है — "परस्त्री एवं परद्रव्य से विमुख, शुद्ध भाव से संपन्न, लिंग में परम श्रद्धावाला संयमी अंग ही माहेश्वर महास्थल कहलाता है।"

श्रीगुरु, लिंग और जंगम के प्रसाद को ही ग्रहण करने वाला, लिंग की आराधना में ही सदा लगा रहने वाला, सभी छत्तीस प्रकार के पदार्थों को समर्पित कर देने वाला अंग ही प्रसादी कहलाता है। जैसा कि कहा गया है — "सभी पदार्थों को लिंग को समर्पित कर देने वाला, अत एव सुभोगी, लिंग में परम श्रद्धा से संपन्न, लिंग आदि को बिना समर्पित किये किसी वस्तु को ग्रहण न करने वाला प्रसादी उत्तम स्थल माना गया है"।

सुखदु:खोभयवर्जितो लिङ्गमेव प्राणः प्राण एव लिङ्गमिति प्राणलिङ्गानुसन्धानवान् एव प्राणलिङ्गीति। तथा हि— "वामौ(यौ) प्राणगुणे लिङ्गं लिङ्गे प्राणः समाहितः। सुखदु:खोभयं नास्ति प्राणलिङ्गिस्थलं भवेत्"॥ इति।

तादृशप्राणलिङ्गमेव पतिः, स्वयमेव सतीति सतीपतिभावमापन्नः "अहं ब्रह्मास्मि" इति श्रुत्युक्तशिवो(वा)ऽहंभावेन वर्तमानः प्रापञ्चिकसुखविहीनो भक्तिज्ञानवैराग्यसम्पन्न एव शरण इत्यभिधीयते। तथा हि—"पतिर्लिङ्गं सती चाहं हृदि युक्तः स्वयं प्रभुः। प्रापञ्चिकसुखं नास्ति शरणस्थलमुत्तमम्॥" इति।

षडूर्मिषड्भाववर्जितोऽशेषविश्वाभेदमयपूर्णाहन्ताविलासविकासितः शिखीकर्पूरयोगवद् अन्तर्मुखमहालिङ्गप्रकाशीकृतषष्टमशक्रेश्वरतासिद्धिरूपशिवैक्य एव ऐक्य इति। तथा हि— "षडूर्मयश्च षड्भावा नास्ति चाष्टविधार्चनम्। निजभावो निजलिङ्गैक्यः शिखीकर्पूरयोगवत्॥" इति। अत्र कर्पूरस्य भूतस्वरूपत्वात्,

---

सुख और दु:ख — दोनों से वर्जित, लिंग ही प्राण है और प्राण ही लिंग है, इस तरह से प्राणलिंग का अनुसन्धाता प्राणलिंगी कहलाता है। जैसा कि कहा गया है — "प्राण के गुण वायु (पवन) में लिंग को और लिंग में प्राण को समाहित कर देने वाला, सुख और दु:ख — दोनों के प्रति वितृष्ण व्यक्ति प्राणलिंगी कहलाता है"।

इस तरह के प्राणलिंग को अपना पति तथा स्वयं अपने को सती — इस प्रकार सती-पतिभाव को स्वीकार करने वाला तथा "अहं ब्रह्माऽस्मि" इस श्रुति के अनुसार सर्वत्र अपने शिवभाव को देखने वाला, सांसारिक सुख की इच्छा न रखने वाला एवं भक्ति, ज्ञान और वैराग्य से संपन्न जीव शरण कहलाता है।

छ: प्रकार की ऊर्मियों से एवं छ: प्रकार के भावों से रहित, समस्त संसार को अपनी अभेदमय पूर्णाहन्ता के विलास का विकास मानने वाला, शिखी-कर्पूर न्याय से अन्तर्मुख महालिंग के प्रकाश से प्रकाशित, षड्विध ऐश्वर्य की सिद्धि रूप शिवैक्य को प्राप्त करने वाला अंग ही ऐक्य के नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि बताया गया है — "षड्विध ऊर्मियों और षड्विध भावों से रहित, अष्टविध अर्चन को भी न करने वाला जीव निज स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर शिखीकर्पूर न्याय से जब निजलिंग के साथ एकाकार हो

तस्य परम्परया तेजःकार्यत्वात्, कार्यनाशस्य कारणात्मना स्थितिरूपत्वान्न स्वरूपहानिरित्यङ्गस्थलं विमर्शनीयम्।

एवं च भक्तादिषड्विधशरणानाम्, आचारादिषड्विधलिङ्गानां च सम्बन्धो विमर्शनीयः। तथा हि — "आचारलिङ्गं घ्राणाख्यं भक्तस्थलसमाश्रयम्। निवृत्तिकलयोपेतं गन्धग्रहणसाधनम्।। गुरुलिङ्गं तु जिह्वाख्यं माहेशस्थलसंश्रयम्। प्रतिष्ठाकलयोपेतं रसग्रहणसाधनम्।। शिवलिङ्गं तु नेत्राख्यं प्रसादिस्थलसंश्रयम्। विद्याकलासमोपेतं रूपग्रहणसाधनम्।। त्वगाख्यं जङ्गमं लिङ्गं प्राणलिङ्गिस्थलाश्रयम्। शान्त(न्त्या)ख्यकलयोपेतं स्पर्शग्रहणसाधनम्।। प्रसादलिङ्गं श्रोत्राख्यं शरणस्थल-संश्रयम्। शान्त्यतीतकलोपेतं शब्दग्रहणसाधनम्।। मानसं तु महालिङ्गमैक्यस्थल-समाश्रयम्। शान्त्यतीतोत्तरोपेतं सर्वग्रहणसाधनम्।।" इति।

---

जाता है, तो वह ऐक्य स्थल कहलाता है"। यहाँ कपूर भूतस्वभाव है, अर्थात् परम्परा से यह तेज का कार्य है। अग्नि का सम्पर्क होने पर वह जल जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि अग्नि के कार्य कर्पूर का अपने कारण स्वरूप अग्नि नामक भूत में उसका विलय होता है, अर्थात् वह अपने कारण में स्थित हो जाता है, उसके स्वरूप की हानि नहीं होती, उसी तरह की अंग की लिंग में स्थिति मानी जाती है।

इसी प्रकार भक्त आदि षड्विध शरणों (अंगों) का और आचार आदि षड्विध लिंगों के भी संबन्ध को समझना चाहिये। जैसा कि बताया गया है — "भक्तस्थल में समाश्रित घ्राणेन्द्रिय आचारलिंग से संबद्ध है। निवृत्ति कला से यह संयुक्त है और गन्ध को ग्रहण करने का साधन है।। माहेशस्थल में समाश्रित जिह्वेन्द्रिय गुरुलिंग से संबद्ध है। प्रतिष्ठा कला से यह संयुक्त है और रस को ग्रहण करने का साधन है।। प्रसादीस्थल में समाश्रित नेत्रेन्द्रिय शिवलिंग से संबद्ध है। विद्या कला से यह संयुक्त है और रूप को ग्रहण करने का साधन है।। प्राणलिंगीस्थल में समाश्रित त्वगिन्द्रिय जंगमलिंग से संबद्ध है। शान्ति कला से यह संयुक्त है और स्पर्श को ग्रहण करने का साधन है।। शरणस्थल में समाश्रित श्रोत्रेन्द्रिय प्रसादलिंग से संबद्ध है। शान्त्यतीत कला से यह संयुक्त है और शब्द को ग्रहण करने का साधन है।। इसी तरह से ऐक्यस्थल में समाश्रित मानस विषय महालिंग से संबद्ध है। शान्त्यतीतोत्तर कला से यह संयुक्त है और सभी विषयों के ग्रहण करने का यह साधन है।।"

अत्र मानसादीनां करणरूपत्वेऽपि घ्रातृत्वादिलक्षणचैतन्यघ्रेयादिपदार्थ-स्वाकारसाधनत्वेन तदेकनिष्ठत्वाल्लिङ्गरूपत्वव्यपदेशः, अन्यथा घ्रातुर्घ्राणरसने वाग्गन्धग्रहणसाधनं स्यादिति लिङ्गाङ्गसामरस्यरसिकैरेव विभावनीयम्।

एवं भक्तस्तावदाचारलिङ्गस्य क्रियाशक्तिविशिष्टस्य श्रद्धाभक्त्या सुचित्तहस्तेन गन्धपदार्थं धृत्वा नकारमन्त्रमनुस्मरन् घ्राणेन्द्रियमुखेन समर्प्य तत्प्रसादोपभोगी भूत्वा परिणामी भवति, "रुद्रेणाघ्रातं जिघ्रन्ति" इति श्रुतेः।

माहेश्वरो हि गुरुलिङ्गस्य ज्ञानशक्तिविशिष्टस्य नैष्ठिकभक्त्या निरहङ्कारहस्तेन रसपदार्थं धृत्वा मकारमन्त्रमनुस्मरन् रसनेन्द्रियमुखेन रसपदार्थं समर्प्य (त)त्प्रसादं स्वीकृत्य परिणामी भवति, "रुद्रेणात्तमदन्ति रुद्रेण पीतं पिबन्ति" इति श्रुतेः।

---

यहाँ मानस आदि की करणरूपता के स्पष्ट होने पर भी घ्रातृत्व आदि के रूप में स्थित चैतन्य और घ्रेय आदि के रूप में स्थित पदार्थ अपने आकार को समर्पित करने का एकमात्र साधन है, इसलिये तदनुसार ही अलग-अलग लिंगों के रूप में उनकी अभिव्यक्ति होती है। अन्यथा घ्राता की घ्राणेन्द्रिय वाक् का तथा रसनेन्द्रिय गन्ध का ग्रहण करने लगेगी। इस विषय को लिंगांग के सामरस्य के जानकार, इसमें रस लेने वाले सुधी जन हीं समझ सकते हैं, यह जान लेना चाहिये।

इस पद्धति के अनुसार भक्त क्रियाशक्ति से विशिष्ट आचारलिंग की श्रद्धाभक्ति के साथ सुचित्त की सहायता से गन्ध पदार्थ का ग्रहण कर नकार-मन्त्र का स्मरण करता हुआ घ्राणेन्द्रिय की सहायता से उसे समर्पित करने के उपरान्त प्रसाद के रूप में उसका उपभोग करता हुआ तदाकार बन जाता है, जैसा कि "रुद्र से आघ्रात वस्तु का स्वयं आघ्राण करते हैं" यह श्रुति कहती है।

माहेश्वर ज्ञानशक्ति से संयुक्त गुरुलिंग की नैष्ठिकभक्ति के साथ निरहंकार रूपी हाथ से रस पदार्थ का ग्रहण कर मकार-मन्त्र का स्मरण करता हुआ रसनेन्द्रिय की सहायता से रस पदार्थ को समर्पित करने के उपरान्त प्रसाद के रूप में उसका उपभोग करता हुआ तदाकार बन जाता है, जैसा कि "रुद्र के द्वारा खाये गये भोजन एवं पीये गये पदार्थ को स्वयं खाते-पीते हैं" इस श्रुति में कहा गया है।

प्रसादी तु शिवलिङ्गस्येच्छाशक्तिविशिष्टस्य सावधानभक्त्या सुबुद्धिहस्तेन रूपपदार्थं धृत्वा शिकारमन्त्रमनुस्मरन् नेत्रेन्द्रियमुखेन समर्प्य तत्प्रसादोपभोगी भूत्वा परिणामी भवति। अत्र "रुद्रेण दृष्टं पश्यन्ति" इत्यानुपूर्वीश्रुत्यभावेऽपि पूर्वश्रुत्यनुरोधेन कल्प्येत्यविरोधः।

प्राणलिङ्गी तु औन्मुख्यशक्तिविशिष्टस्य जङ्गमलिङ्गस्य अनुभवभक्त्या सुमनोहस्तेन स्पर्शपदार्थं धृत्वा वाकारमन्त्रमनुस्मरन् त्वगिन्द्रियमुखेन समर्प्य तत्प्रसादोपभोगी भूत्वा परिणामी भवति। अत्रापि — "रुद्रेण स्पृष्टं स्पृशन्ति" इति श्रुतिः कल्पनीया।

शरणस्तु पराशक्तिविशिष्टस्य प्रसादलिङ्गस्यानन्दभक्त्या सुज्ञानहस्तेन शब्दपदार्थं धृत्वा यकारमन्त्रमनुस्मरन् श्रोत्रेन्द्रियमुखेन समर्प्य तत्प्रसादं भुक्त्वा परिणामी भवति। अत्र "रुद्रेण श्रुतं शृण्वन्ति" इति श्रुतिरूहनीया।

---

प्रसादी इच्छाशक्ति से संयुक्त शिवलिंग की सावधान नामक भक्ति के साथ सुबुद्धि-स्वरूप हाथ से रूप पदार्थ का ग्रहण कर शिकार-मन्त्र का स्मरण करता हुआ चक्षुरिन्द्रिय की सहायता से रूप पदार्थ को समर्पित करने के उपरान्त प्रसाद के रूप में उसका उपभोग करता हुआ तदाकार बन जाता है। यहाँ "रुद्र के द्वारा दृष्ट वस्तु का दर्शन करते हैं" इस प्रकार की श्रुति के न रहने पर भी पूर्व श्रुति के आधार पर उसकी कल्पना कर लेना चाहिये।

प्राणलिंगी औन्मुख्य शक्ति से विशिष्ट जंगमलिंग की अनुसन्धान नामक भक्ति के साथ सुमनस् स्वरूप हाथ से स्पर्श का ग्रहण कर वाकार-मन्त्र का स्मरण करता हुआ त्वगिन्द्रिय की सहायता से स्पर्श पदार्थ को समर्पित करने के उपरान्त प्रसाद के रूप में उसका उपभोग करता हुआ तदाकार बन जाता है। यहाँ भी "रुद्र के द्वारा स्पृष्ट वस्तु को छूते हैं" इस तरह की श्रुति की कल्पना करनी चाहिये।

शरण पराशक्ति से संपन्न प्राणलिंग की आनन्द नामक भक्ति के साथ सुज्ञान नामक हाथ से शब्द पदार्थ का ग्रहण कर यकार-मन्त्र का स्मरण करता हुआ श्रोत्रेन्द्रिय की सहायता से शब्द पदार्थ को समर्पित करने के उपरान्त प्रसाद के रूप में उसका उपभोग करता हुआ तदाकार बन जाता है। यहाँ भी "रुद्र के द्वारा श्रुत पदार्थ का श्रवण करते हैं" इस तरह की श्रुति की कल्पना की जाती है।

ऐक्यस्य(स्तु) चिच्छक्तिविशिष्टस्य महालिङ्गस्य समरसभक्त्या सद्भावहस्तेन तृप्तिपदार्थं धृत्वा ॐकारमनुस्मरन् मनोमुखेन समर्प्य तत्प्रसादोपभोगी भूत्वा परिणामी भवति। अत्रापि — "रुद्रेण मतं मन्वते" इति श्रुतिः पूर्वोक्तरीत्या सङ्गमनीयेति न कश्चिद् दोषः पदमादधाति।

यद्यप्येवंभूतस्य वीरशैवस्य शरीरस्य मन्त्रलिङ्गरूपत्वादुपचरणीयं किमपि नास्त्येव, तथाप्येतदुपासनासहकृतलिङ्गाङ्गसामरस्यप्रकारो विभावनीयः। तथा हि — पृथ्वी भक्ताङ्गं भूत्वा तत्रैव लीना भवति, चिद्धृतिरूपत्वात्। वारि माहेश्वराङ्गं भूत्वा तत्रैव लीनं भवति, चिदाप्यायनरूपत्वात्। तेजः प्रसाद्यङ्गं भूत्वा तत्रैव लीनं भवति, चिदुज्ज्वलनरूपत्वात्। वायुः प्राणलिङ्गाङ्गं भूत्वा तत्रैव लीनो भवति, स्वतन्त्रतालक्षणस्पन्दनरूपत्वात्। व्योम शरणाङ्गं भूत्वा

---

ऐक्य नामक अंग चिच्छक्ति से विशिष्ट महालिंग की समरस नामक भक्ति के साथ सद्भाव नामक हस्त से तृप्ति नामक मनोभाव से संपन्न हो ॐकार मन्त्र का स्मरण करता हुआ मन नामक आन्तर इन्द्रिय की सहायता से मानसिक सन्तुष्टि को प्रसाद के रूप में समर्पित कर उसका उपभोग करता हुआ तदाकार बन जाता है। यहाँ भी "रुद्र के द्वारा चिन्तित वस्तु का मनन करता है" इस तरह की श्रुति की कल्पना कर लेनी चाहिये। इस तरह से किसी भी दोष की आशंका नहीं रह जाती, अर्थात् सभी वस्तुओं का उपभोग प्रसाद के रूप में करने पर उनके सारे दोष निवृत्त हो जाते हैं।

यद्यपि इस प्रकार से प्रसादोपभोगी वीरशैव के मन्त्रस्वरूप हो जाने से उसके लिये इसके सिवाय अन्य किसी उपचार (पूजाविधि) की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, तो भी ऊपर बताई गई उपासना की सहायता से प्राप्त होने वाली लिंगांग-सामरस्य की पद्धति को समझ लेना जरूरी है। वह इस प्रकार है — पृथ्वी भक्तस्थल का अंग बनकर वहीं लीन हो जाती है, क्योंकि वहाँ चितिशक्ति स्थिर रहती है। जल माहेश्वरस्थल का अंग बन कर वहीं लीन हो जाता है, क्योंकि वहाँ चितिशक्ति प्रवहमान रहती है। तेज प्रसादीस्थल का अंग बनकर वहीं लीन हो जाता है, क्योंकि यहाँ चितिशक्ति की उज्ज्वलता देखने को मिलती है। वायु प्राणलिंगी का अंश बनकर वहीं लीन हो जाता है, क्योंकि यहाँ स्वातन्त्र्य शक्ति का स्पन्दन सदा होता रहता है। आकाश शरणस्थल का अंग बन कर वहीं लीन हो जाता है, क्योंकि यहाँ

तत्रैव लीनं भवति, चिद्व्याप्तिरूपत्वात्। वेद्यसंस्कारात्मकबिन्दुर्हि ऐक्याङ्गं भूत्वा तत्रैव लीनो भवति, चिदैक्यरूपत्वात्।

एवं भक्तस्याचारलिङ्गाङ्गत्वात् स तत्रैव लीनः, माहेश्वरस्य गुरुलिङ्गाङ्गत्वात् स तत्रैव लीनः, प्रसादिनः शिवलिङ्गाङ्गत्वात् स तत्रैव लीनः, प्राणलिङ्गिनो जङ्गमलिङ्गाङ्गत्वात् स तत्रैव लीनः, शरणस्य प्रसादलिङ्गाङ्गत्वात् स तत्रैव लीनः, ऐक्यस्य महालिङ्गाङ्गत्वात् स तत्रैव लीन इति विमर्शनीयम्। एवमाचारलिङ्गं गुरुलिङ्गे, गुरुलिङ्गं शिवलिङ्गे, शिवलिङ्गं जङ्गमलिङ्गे, जङ्गमलिङ्गं प्रसादलिङ्गे, प्रसादलिङ्गं महालिङ्गे, महालिङ्गं घनलिङ्गे एकलोलीभूतं सदखण्डानन्दपरिबृंहितं सदास्ति, लिङ्गषट्कस्य चिदानन्दप्रतिफलनकलनात्मकत्वात्।

तस्मान्मुमुक्षुरेवंविधलिङ्गाङ्गसामरस्यज्ञानी भूत्वा — "तमेव विदित्वाऽति-मृत्युमेति", "ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति", "ब्रह्मविदाप्नोति परम्", "ईशं

---

चितिशक्ति सर्वत्र व्याप्त हो जाती है। समस्त वेद्य पदार्थों को स्वरूप प्रदान करने वाला बिन्दु ऐक्यस्थल का अंग बनकर वहीं लीन हो जाता है, क्योंकि चितिशक्ति की एकाकारता यहाँ परिपूर्ण हो जाती है।

इसी तरह से इस विषय का भी विमर्श करना चाहिये कि भक्त आचारलिंग का अंग होने से उसीमें लीन हो जाता है, माहेश्वर गुरुलिंग का अंग होने से उसीमें लीन हो जाता है, प्रसादी शिवलिंग का अंग होने से उसीमें लीन हो जाता है, प्राणलिंगी जंगमलिंग का अंग होने से उसीमें लीन हो जाता है, शरण प्रसादलिंग का अंग होने से उसीमें लीन हो जाता है और ऐक्य महालिंग का अंग होने से उसीमें लीन हो जाता है। इसी पद्धति से आचारलिंग गुरुलिंग में, गुरुलिंग शिवलिंग में, शिवलिंग जंगमलिंग में, जंगमलिंग प्रसादलिंग में, प्रसाद लिंग महालिंग में और महालिंग घनलिंग में एकाकार होकर अखंड आनन्द की परिपूर्ण स्थिति में सदा विद्यमान रहता है, क्योंकि इन षड्विध लिंगों की स्थिति चित् और आनन्द की सत्ता के प्रतिफलन (प्रतिबिम्ब) के कलन (आभास) के कारण ही होती है।

इसलिये मुक्ति की कामना रखने वाला साधक (मुमुक्षु) इस तरह यहाँ बताई गई लिंगांग-सामरस्य की पूरी प्रक्रिया को समझ कर, "उसी परमतत्त्व को जानकर साधक मृत्यु से उत्तीर्ण हो जाता है", "शिव को जानकर साधक

तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति'', ''तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्'', ''ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः'', ''ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'' इत्यादिश्रुत्युक्ताशेषविश्वाभेदमयपूर्णाहन्तात्मकशिवस्वरूपो भूत्वा विश्वस्यात्मरूपत्वेन चकास्तीति ''शिव एवात्मा'' इति पञ्चवर्णमहासूत्रोक्तज्ञानमेव मुक्तिकारणमिति।

एतस्मिन्नेव महासूत्रे दृक्क्रियात्मकचैतन्यप्रतिपादकशिवसूत्राणाम्, षट्स्थलब्रह्मषट्त्रिंशत्तत्त्वप्रतिपादकब्रह्मसूत्राणां च; किं बहुना, सकलश्रुतिस्मृतिपुराणागमोपनिषदां चान्तर्भावो भवतीति सर्वं समञ्जसमेवेति शिवम्॥

---

अत्यन्त शान्ति को प्राप्त करता है'', ''ब्रह्मवेत्ता ही परमशिव को प्राप्त करता है'', ''उस ईश्वर को जानकर मुमुक्षुगण अमृत-पदवी को प्राप्त कर लेते हैं'', ''कर्मकाण्ड के द्वारा उसको देखा नहीं जा सकता, शोक-मोह आदि दुर्गुणों से मुक्त साधक ही ईश्वर की अनुकम्पा के होने पर उसकी महिमा को जान पाता है'', ''उस ईश्वर को जान लेने पर भक्त सभी पापों से मुक्त हो जाता है'', ''ब्रह्मवेत्ता मुमुक्षु ब्रह्मस्वरूप हो जाता है'' इस प्रकार की श्रुतियों में वर्णित समस्त संसार के साथ अभेद दृष्टि को उजागर कर देने वाली पूर्णाहन्ता की अभिव्यक्ति हो जाने से मुमुक्षु स्वयं शिवस्वरूप हो जाता है, यह सारा विश्व उसके सामने स्वात्म-स्वरूप में ही प्रकाशित होता है। इस तरह से ''शिव एवात्मा'' (शिव ही सारे विश्व की आत्मा है, शिव से भिन्न अन्य किसी की कोई स्थिति नहीं है) इस पंचवर्णमहासूत्र का यहाँ बताया गया विस्तृत अर्थज्ञान ही मुक्ति का कारण बन सकता है।

इसी महासूत्र में ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न चैतन्य के स्वरूप का बोध कराने वाले शिवसूत्रों का तथा षट्स्थल ब्रह्म एवं छत्तीस तत्त्वों के स्वरूप के प्रतिपादक ब्रह्मसूत्रों का, इतना ही क्यों, समस्त श्रुति, स्मृति, पुराण, आगम और उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषयों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत पंचवर्णमहासूत्र के भाष्य में सभी शास्त्रों का सामंजस्य बैठा दिया गया है।

**।। इति शिवम् ।।**

इति श्रीमद्वेदवेदान्तप्रतिपादितवीरशैवमहाभाष्यसिंहासनाधीश्वर-श्रीमत्परमहंस-परिव्राजकाचार्यवर्य-षड्दर्शनस्थापनाचार्यवर्य-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-भगवत्पाद-श्रीनीलकण्ठशिवाचार्यपरम्परागत-शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्तपारावार-श्रीमत्स्कन्द-गोत्रीय-पञ्चवर्णसूत्रान्वित-पूवल्लिपुरवराधीश-श्रीशिवयोगिसिद्धनञ्जेशशिवाचार्य-विरचितं पञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यं सम्पूर्णम्। शिवार्पणम्।।

इदं श्रीपञ्चवर्णमहासूत्रभाष्यं श्रीशिवयोगिसिद्धनञ्जेशशिवाचार्यविरचितं श्रीमद्भगवत्पाद-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-श्रीचिदम्बरदीक्षितैराज्ञप्तेन कृष्णंभट्टनाम्ना विद्वद्वरेण सम्यक् परिशोध्य लिखितम्।

वेदव्यासं महाशक्तिं नीलकण्ठं महेश्वरम् ।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ।।

❀❀❀

---

इस तरह से वेद एवं वेदान्त द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का अनुसरण करने वाले वीरशैव महाभाष्य के रचयिता, वीरशैवसिंहासन के अधिपति, श्रीमान् परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्य, षड्दर्शन की स्थापना करने वाले आचार्य, सभी शास्त्रों में परमनिपुण श्रीमान् भगवत्पाद श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्य की परम्परा का अनुपालन करने वाले, शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में परमनिष्णात, पूवल्ली नामक नगर के श्रेष्ठ अधिपति, श्रीमत् पंचवर्णसम्प्रदाय में निष्णात नञ्जेश शिवाचार्य विरचित पंचवर्णमहाभाष्य संपूर्ण हुआ। इसे शिवार्पित किया जाता है।।

श्री शिवयोगी सिद्ध नञ्जेश शिवाचार्य विरचित इस श्री पंचवर्णमहासूत्र भाष्य को श्रीमद् भगवत्पाद सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीचिदम्बर दीक्षित महोदय की आज्ञा के अनुसार कृष्णभट्ट नामक विद्वद्वर ने भलीभाँति शुद्ध करके लिखा है।।

महाशक्ति से सम्पन्न वेदव्यास और महेश्वरस्वरूप नीलकण्ठ को, जिन्होंने क्रमशः ब्रह्मसूत्र एवं उसके भाष्य की रचना की है, मैं पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ।।

❀❀❀

# परिशिष्टम्

## श्रीजगद्गुरु-विश्वकर्णविजयनक्षत्रमालिका

श्रीचिक्कनञ्जेशशिवाचार्यविरचिता

## उपोद्घातः

सत्यस्वरूपाय चिदात्मकाय
आनन्दकन्दाय च शाश्वताय ।
लिङ्गाभिधानाय शिवाधवाय
श्रीविश्वनाथाय नमः शिवाय ।।१।।

सोमांशुसंशोभिजटाविराजं
वामासमारोपितवामभागम् ।
श्यामप्रभारञ्जितकम्बुकण्ठं
प्रेमाभिरामं प्रणमामि शम्भुम् ।।२।।

शम्भोः समासादितवामदेहां
भक्तप्रदानोचितसिद्धिगेहाम्
विश्वादिचिदचित्सकलस्वरूपां
तामादिशक्तिं मनसा स्मरामि ।।३।।

विश्वेशलिङ्गार्जितजन्मभाजं
लिङ्गाङ्कितस्वर्णजटाविराजम् ।
वन्दे स्वभक्तेच्छितकल्पभूषं
श्रीविश्वकर्णं गुरुराजिराजम् ।।४।।

सिद्धाचलेशं श्रितकल्पवृक्षं
भक्तालिसंरक्षणबद्धदीक्षम् ।
प्रणौम्यहं निर्जितपूर्वपक्षं
श्रीसिद्धनञ्जेश्वरमात्मलक्ष्यम् ।।५।।

श्रीचन्नवीराम्बिकया प्रबुद्धं
प्रश्नोत्तरे यद् गुरुबोधितेऽस्मिन् ।
कथाप्रसङ्गेन च विश्वकर्ण-
चारित्र्यमाद्यं तदहं प्रवक्ष्ये ।।६।।

श्रीविश्वकर्णाख्यगणेश्वरस्य
चारित्र्यमेतद् गुरुबोधपूर्णम् ।
दिव्यागमोक्तैरुचितैः प्रमाणैः
श्रीचिक्कनञ्जेशबुधो विधत्ते ।।७।।

## चरित्रारम्भः

कैलासशैलेशशिखण्डमौलेः
पादारविन्दं परिसेव्यमानाः ।
देवाः समस्ताः परतुष्टिमीयुः
प्रसादपूर्वं परिपोष्यमाणाः ।।१।।

प्रसाददानावसरे प्रसादं
प्रदाय पूर्वं श्रुतविश्वकर्णम् ।
शिवः समाहूय तमादिदेश
भूलोकमाप्तुं शिवभक्तिवृद्ध्यै ।।२।।

विश्वेशलिङ्गाज्जनिमाप्य काश्यां
विश्वप्रसिद्धं शिवतन्त्रसिद्धम् ।
श्रीवीरशैवं मतमुत्तमं त्वं
संस्थापयस्वेति तमादिदेश ।।३।।

तदा तदाज्ञावशतो महात्मा
श्रीविश्वकर्णः स्वमनोविनोदात् ।
विश्वेशलिङ्गाज्जनिमाप्य काश्यां
प्रबोधयामास निजात्मवृत्तम् ।।४।।

देवर्षिणा नारदमौनिनोक्तां
कथां दिवोदासनृपो गुरोस्ताम् ।
निशम्य भक्त्या स गुरुं प्रणम्य
सम्प्रार्थयामास गृहागमाय ।।५।।

तद्भक्तिपूर्णं वचनं निशम्य
श्रीविश्वकर्णः करुणाप्रपूर्णः ।
ससंभ्रमं राजमहोत्सवेन
समाससाद शृतराजधानीम् ।।६।।

तमागतं श्रीगुरुसार्वभौमं
सौवर्णरत्नाञ्चितसिंहपीठे ।
नमन्नुपाविश्य पदारविन्दे
प्रपूजयामास नृपः स शास्त्रम् ।।७।।

तत्पूजया तुष्टमना गुरुस्तं
तत् शक्तिपातं सुसमीक्ष्य शान्त्या ।
संयोजयन् श्रीशिवदीक्षयाऽस्मै
लिङ्गाङ्गतत्त्वं समुपादिदेश ।।८।।

तथा प्रशान्तो मुदितान्तरात्मा
श्रुत्वा दिवोदासनृपो गुरूक्तम् ।
श्रीवीरशैवीयमगम्यतत्त्वं
प्रचारयामास विचारदृष्ट्या ।।९।।

अथ प्रमोदान्वितमानसोऽयं
आचार्यवर्यः स तु विश्वकर्णः ।
आकाशमार्गादवतीर्य शीघ्रं
दूर्वासदिव्याश्रममाजगाम ।।१०।।

श्रिया श्रिते श्रीतरुराजिराजे
वसन् स विल्वाश्रममध्यभागे ।
प्रभातकाले दिशि शङ्करस्य
ददर्श दूर्वासमुनिः सुतेजाः ।।११।।

तेजस्ततिं वीक्ष्य मुनीश्वरोऽयं
मुनिव्रजश्चापि तदेकदृष्ट्या ।
विचिन्तयामासुरनन्यचित्ताः
किमेतदित्याशु सशङ्किरे च ।।१२।।

तदैव देवार्चितसत्फलं तद्
विचिन्त्य विज्ञानदृशा मुनीन्द्रः ।
श्रीविश्वकर्णोऽयमिति प्रशान्तः
प्रोवाच सम्यक् पुरतो मुनीनाम् ।।१३।।

तस्मिन् क्षणे स्वर्णजटाकलापे
लिङ्गाङ्कितो भस्मधरस्त्रिणेत्रः ।
श्रीविल्वदण्डः सकमण्डलुश्च
रुद्राक्षभूषोऽवतरन् स दृष्टः ।।१४।।

प्रणम्य भक्त्या पुरतः स्थितं तं
श्रीविश्वकर्णं शिवरूपभाजम् ।
समीक्ष्य दूर्वासमुनिं च सर्वे
सम्प्रार्थयासुरनन्यचित्ताः ।।१५।।

धन्या वयं धन्यमिदं वनं यद्
धन्यं तपो धन्यमिदं च जन्म ।
धन्यो जपो धन्यमिदं कुलं नः
इति प्रतुष्टाव मुनिव्रजस्तम् ।।१६।।

अथ प्रशान्तं गुरुमर्चयन् महीं
नमन्नुपाविश्य च भद्रपीठे ।
उवाच दूर्वासमुनिः स्वतन्त्रं
मे बोधयस्वेति शिवात्मतत्त्वम् ।।१७।।

ततः स शिव एवात्मेत्यागमैकार्थनिश्चितम् ।
पञ्चवर्णमहासूत्रं बोधयामास सद्गुरुः ।।१८।।

तदा तदाकर्ण्य स विश्वकर्णः
प्रबोधयामास सुशान्तवाचा ।
वेदागमेषु श्रुतवीरशैव-
सिद्धान्तशास्त्रं परधर्मशास्त्रम् ।।१९।।

यश्चेतनाचेतनसूक्ष्मरूप-
शक्त्या विशिष्टोऽस्ति शिवः स एव ।
विश्वात्मभावेन विराजतेऽसौ
स्वातन्त्र्यतश्चेतनभावतश्च ।।२०।।

या ज्ञानशक्तिः कथिता शिवस्य
चिच्छक्तिरेषा हि तदात्मरूपा ।
या च क्रियाशक्तिरितीर्यते सा
विभात्यचिच्छक्तिरिति प्रसिद्धा ।।२१।।

ज्ञानक्रियाशक्तिविशिष्ट एव
स चेतनाचेतनशक्तियुक्तः ।
शिवः परात्मा च तदीयशक्तिः
स्थूलत्वमाप्नोति हि विश्वरूपम् ।।२२।।

तत्स्थूलशक्त्या च विशिष्ट एव
जीवः शिवांशस्त्रिमलावृतश्च ।
संसारबद्धोऽयमनन्तरूपः
त्रिर्देहयुक्तः त्रिदशाप्रपन्नः ।।२३।।

गुरूपदेशेन स शक्तिपाताद्
दीक्षात्रयेणाऽऽत्मतनुत्रयेऽस्मिन् ।
लिङ्गत्रयं प्राप्य मलत्रयं तद्
व्यपोह्य साक्षात् शिवतामुपैति ।।२४।।

जीवस्य सच्चित्सुखरूपमेतत्
शिवत्वमेवास्ति गुरूपलब्धम् ।
तस्मादयं श्रीगुरुभक्तियुक्तः
प्राप्नोति मोक्षं तदनुग्रहेण ।।२५।।

इति प्रसिद्धं गुरुवक्त्रलब्धं
श्रुत्वा शिवाद्वैतमतीव शुद्धम् ।
कृतार्थजन्मा स मुनिर्बभूव
प्रचारयामास विरच्य तन्त्रम् ।।२६।।

अथ प्रभुर्विश्वमुनिं स्वशिष्यं
काश्यामुपाविश्य च ज्ञानपीठे ।
शिष्याननुगृह्य स विश्वनाथ-
लिङ्गे विलीनोऽभवदन्तरात्मा ।।२७।।

*।। इति पूवल्ली-पञ्चवर्णसूत्रान्वितश्रीसिद्धनञ्जेशशिष्येण
श्रीचिक्कनञ्जेश-महाशिवकविना विरचिता
श्रीजगद्गुरुविश्वकर्णविजयनक्षत्र-
मालिका समाप्तिं गता ।।*

।। शिवं भूयात् ।।

❋❋❋

# अवधेय पदानुक्रमणी

❋ ❋ ❋

# हमारे अन्य प्रकाशन

| | | सजिल्द | अजिल्द |
|---|---|---|---|
| १. | **लिङ्गधारणचन्द्रिका** – नन्दिकेश्वर शिवाचार्य | रु.१५० | रु.१२५ |
| २. | **ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्यम्** – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.१५० | – – |
| ३. | **वीरशैव अष्टावरण विज्ञान** – डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी | – – | रु.५० |
| ४. | **सिद्धान्तशिखामणिसमीक्षा** – डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी | रु.२०० | – – |
| ५. | **निगमागम संस्कृति** – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.२०० | रु.१५० |
| ६. | **सूक्ष्मागमः** – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.१५० | रु.१२५ |
| ७. | **चन्द्रज्ञानागमः** – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.२०० | रु.१७५ |
| ८. | **मकुटागमः** – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.१२५ | रु.१०० |
| ९. | **कारणागमः** – सम्पा. पं. रामचन्द्र पाण्डेय | रु.१७५ | रु.१५० |
| १०. | **निगमागमीयसंस्कृतिदर्शनम्** – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.३०० | रु.२०० |
| ११. | **पारमेश्वरागमः** – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.३५० | रु.२०० |
| १२. | **Candrajñānāgama** — Tr. by Dr. Rama Ghose | Rs.300 | - - |
| १३. | **ईशावास्योपनिषद्** – सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग | रु.१५० | रु.१०० |
| १४. | **केनोपनिषद्** – सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग | रु.२०० | रु.१५० |
| १५. | **सिद्धान्तप्रकाशिका** – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.१०० | रु.७५ |
| १६. | **Makuṭāgama** — Tr. by Dr. Rama Ghose | Rs.175 | Rs.150 |
| १७. | **शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्शः** – डॉ. चन्द्रशेखर शिवाचार्य महास्वामीजी | रु.३०० | रु.२०० |
| १८. | **अनुभवसूत्रम्** – सम्पा. पं. गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर | रु.२०० | रु.१२५ |
| १९. | **सिद्धान्तशिखोपनिषद्** – सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग | रु.३५० | रु.२५० |
| २०. | **ब्रह्मसूत्रशाङ्करीवृत्तिः** – सम्पा. पं. केदारनाथ त्रिपाठी | रु.२५० | रु.१५० |
| २१. | **सिद्धान्तसारावलिः** – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.५५० | रु.४०० |
| २२. | **श्री गुरुगीता** – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.२०० | रु.१२५ |
| २३. | **शिवाद्वैतदर्पणः** – शिवानुभव शिवाचार्य | रु.१५० | रु.१०० |
| २४. | **सिद्धान्तशिखामणि मीमांसा** – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.३५० | रु.२५० |
| २५. | **देवीकालोत्तरागमः** – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.१५० | रु.१०० |

| | | सजिल्द | अजिल्द |
|---|---|---|---|
| २६. | Pārameśvarāgama — Tr. by Dr. Rama Ghose | Rs.700 | Rs.550 |
| २७. | संस्कृत वाङ्मय में वीरशैव साहित्य – एस. अक्कूरमठ (सम्पा. पं. प्रभुनाथ द्विवेदी) | – | रु.१५० |
| २८. | ऋग्वेदस्यप्रथममण्डलस्य सायणवेंकटमाधवभाष्ययोस्तु-लनात्मकमध्ययनम् – डॉ. प्रमोदिनी पण्डा | रु.४०० | – |
| २९. | तन्त्रागमीय धर्म-दर्शन ( २ भाग ) – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.१२०० | रु.९०० |
| ३०. | साम्ययोगमीमांसा – मुकुट बिहारी लाल | रु.३५० | रु.३०० |
| ३१. | भारतीय संस्कृति का समग्र स्वरूप – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.३५० | रु.३०० |
| ३२. | संस्कृत वाङ्मय वल्लरी –डॉ. गंगाधर पण्डा एवं डॉ. प्रमोदिनी पण्डा | रु.३०० | – |
| ३३. | मुण्डकोपनिषद् – सम्पा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलङ्ग | रु.५०० | रु.४५० |
| ३४. | वातुलशुद्धाख्यतन्त्राम् – सम्पा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.३०० | रु.२०० |
| ३५. | Transmigration ( जन्मान्तरवादः ) –पं. केदारनाथ त्रिपाठी | रु.२०० | रु.१५० |
| ३६. | सांस्कृतिक राष्ट्रवाद –पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.३५० | रु.३०० |
| ३७. | तन्त्रागम सार सर्वस्व – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.२०० | रु.१५० |
| ३८. | पंचवर्णसूत्रमहाभाष्यम् – पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी | रु.२०० | रु.१५० |

## प्रकाशनाधीन

श्वेताश्वतरोपनिषद् –संपा. पं. जगन्नाथ शास्त्री तैलंग

पञ्चविंशतिलीलाशतकम् – संपा. पं. व्रजवल्लभ द्विवेदी तथा ददन उपाध्याय

सिद्धान्त शिखामणि (हिन्दी) – पं. चतुर्वेदी

Sukṣmāgamaḥ — Tr. Dr. Rama Ghose

Siddhānta Prakāśikā — Tr. Dr. T. Ganeshan

❃ ❃ ❃

शैवभारती शोध प्रतिष्ठान

डी. 35/77, जंगमवाडीमठ

वाराणसी - 221001

ISBN 81-86768-55-6

Rs. 150/-